सन्तुलन

(कला, साहित्य, कविता और गद्य पर समीक्षात्मक लेख)

लेखक
प्रभाकर माचवे

भूमिका लेखक
विजयेन्द्र स्नातक

१९५४
आत्माराम एण्ड सन्स
प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली-६

भूमिका

हिन्दी में आलोचना के नाम पर आज विपुल साहित्य प्रकाश मे आ रहा है। पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होने वाले समीक्षात्मक लेखो के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से शास्त्रीय सिद्धान्तो तथा कला-कृतियो की मीमासा प्रस्तुत करने वाली छोटी-बडी पुस्तको का भी अभाव नही है, किन्तु उनमें से कितना आलोचना-कोटि मे आता है यह विचारणीय है। काव्यागो या शास्त्रीय सिद्धान्तो का पर्यालोचन करने वाले मर्मी एव सुधी आलोचको की सख्या आज भी हिन्दी म इनी-गिनी है। गम्भीर अध्ययन की भित्ति पर प्रतिष्ठित लेखो के अभाव का मात्र कारण यही है कि बहुत कम लेखक अपना समय विदेशी साहित्य, सस्कृत तथा हिन्दीतर भाषाओ के अध्ययन मे लगाते है। परिणाम मे प्रचुर होने पर भी सीमा-मर्यादाओ म व्यापक और क्षमता सामर्थ्य मे परिपुष्ट समीक्षा-साहित्य आज भी हिन्दी मे कम है। कोरे प्रभावो के आधार पर वाक्यावली पिरोने से या कलाकृति के वाक्य-खडो को लेकर उनकी अर्थपरक व्याख्या करने से समीक्षा को आकार-प्रकार नही दिया जा सकता। समीक्षा स्वय एक स्वतन्त्र रचना है—उसके मूल मे सृजन की वही प्रेरणा है जो कविता या कहानी के मूल मे रहती है। इस मौलिक सिद्धान्त की उपेक्षा कर देन म आलोचना-क्षेत्र मे कोलाहल अधिक है, काम की बात कम। कुछ आलोचको ने तो बौद्धिक प्रयोग के रूप मे इसे स्वीकार कर लिया है और शास्त्रीय-व्यायाम की शैली से आलोचना का ताना-बाना बुनते रहते है। मै समझता हूँ उन्हे अपनी सृजन-प्रेरणा के मूल उत्स पर एक बार दृष्टि-निक्षेप करना चाहिए। उनके भीतर 'अर्ज ऑफ एक्सप्रेशन' किस रूप मे उत्पन्न होती है और क्या वे अभिव्यक्ति को समीचीन मार्ग पा सके है यह सोचना चाहिए।

मेरी अपनी सम्मति में कला और साहित्य का विवेचन केवल बौद्धिक आयास तक ही सीमित नही है। जिसे साहित्य-समीक्षा करने का अवसर मिला है वह जानता है कि समीक्षा के माध्यम मे उसने किस प्रकार अपनी अभिव्यक्ति की नैसर्गिक वृत्ति को तुष्ट किया है। यदि समस्त मानवी क्रियाओ के मूल मे मानव की अभिव्यक्ति की आकाक्षा को स्वीकार किया जाय तो साहित्य के सृजनात्मक (क्रियेटिव) अगो की भाँति ही समीक्षा को भी अपने शुद्धरूप मे नूतन सृजन ही समझा जायगा और उसके पीछे प्रेरणा की दृष्टि से वही मूल भावना उपलब्ध होगी जो 'स्व' की अभिव्यक्ति चाहती है। हृदय के आवेग-सवेग जिस प्रकार साहित्यिक कृति के मूल मे रहते है वैसे ही उस कृति के समीक्षात्मक आकलन और मूल्याकन मे भी वे उपस्थित रहते हैं। विशुद्ध साहित्यिक कृति के लिए—चाहे वह रचनात्मक हो या

आलोचनात्मक—में समान रूप से उन सभी तत्त्वों की अनिवार्यता मानता हूँ जो अनुभूति, चिन्तन (अध्ययन, मनन) और कल्पना के आश्रित विकसित होकर रचना को आकार प्रदान करने में समर्थ होते हैं।

'सन्तुलन' के लेखक श्री प्रभाकर माचवे के सामने उपर्युक्त तथ्य कितनी स्पष्टता के साथ रहा है और वे समीक्षक के रूप में कहाँ तक सफल हुए हैं यह निर्णय मैं पाठक पर छोड़ता हूँ। किन्तु मुझे यह स्वीकार करते हुए हर्ष है लेखक की तुला में एक ओर जहाँ अध्ययन, मनन और चिन्तन के बटखरे हैं वहाँ दूसरी ओर प्रतिपाद्य विषय-वस्तु को आकार-प्रकार देने के लिए उपयुक्त अनुभूति और कल्पना का सम्बल भी है। साहित्य के जिन विषयों का प्रतिपादन लेखक ने किया है उनकी रूप-रेखा तक ही सीमित न रहकर उनके आभ्यान्तर का पूरी क्षमता के साथ अवगाहन किया गया है। लेख की सीमा-मर्यादा के भीतर वस्तु का विश्लेषण करने में लेखक को उसके अध्ययन के बल पर अच्छी सफलता मिली है यह कहना लेखक की स्तुति नहीं है, और न लेखों में पाश्चात्य विचारकों के प्रभूत उद्धरणों से निजी अभिव्यक्ति आक्रान्त हो गई है—यह कहना लेखक की निन्दा है। सन्तुलित रहने के लिए स्वानुभूति के बल पर ही पर-चिन्तन को स्वीकार किया जाना चाहिए, यह तो लेखक महोदय भी मानेंगे ही। कला और साहित्य जैसे संवेद्य विषयों पर समीक्षा-परक शैली में लेख लिखते समय लेखक को जिस कोटि की योग्यता, सहृदयता और अभिव्यंजना-क्षमता चाहिए वह 'सन्तुलन' के लेखक के पास पर्याप्त मात्रा में है और यही कारण है कि वे आत्माभिव्यक्ति के साथ अध्ययन का बोझ भी सहज ही में वहन कर ले गये हैं।

'सन्तुलन' के लेख तीन भागों में विभक्त हैं। पहला भाग 'कला और साहित्य' है जिसमें शास्त्रीय पद्धति के सात लेख संकलित हैं। द्वितीय भाग में 'आधुनिक कविता' से सम्बन्ध रखने वाले चार लेख हैं। तीसरे भाग में 'आधुनिक गद्य की समस्याओं' पर सात लेखों में विचार किया गया है।

कला और साहित्य के अन्तर्गत जिन प्रश्नों पर विद्वान् लेखक ने विचार किया है वे कला के शाश्वत तथा सामयिक दोनों प्रकार के पहलुओं से सम्बन्ध रखते हैं। कला-समीक्षा की समस्याओं पर विचार करते समय लेखक ने कला की मौलिक स्थिति और उसके स्वरूप-विधान की तात्त्विक विवेचना की है। पाश्चात्य विद्वान् कैंट, हैगेल, क्रोचे, ब्रैडले, बोजाँ आदि की विचारधारा को दृष्टि में रखते हुए लेखक ने अपना अभिमत बड़े सन्तुलन के साथ रखा है। इस लेख में पाश्चात्य लेखकों की विचारधारा पर जिस शैली से लेखक ने विचार किया है वैसा हिन्दी में कम ही देखने में आता है। चित्र-कला, वास्तु-कला और शिल्प कला का साहित्य में क्या प्रयोजन है, और ये ललित-कलाएँ किस प्रकार मानव की भावनाओं को परितुष्ट करती हैं,

इन कलाओं के मूल में भी वही प्रेरक शक्ति है जो काव्यादि सूक्ष्म कलाओं के मूल में रहती है यह तथ्य बड़ी सुन्दर पद्धति से व्यक्त किया गया है। 'आधुनिक साहित्य और मनोविकृति' दर्शन की पृष्ठभूमि पर आधृत एक तर्कपूर्ण मनोवैज्ञानिक लेख है जिसमे मनोविकृति के कारणो की चर्चा के साथ कतिपय साकेतिक निष्कर्षों मे यह बताया गया है कि साहित्य मे मनोदौर्बल्य, कुण्ठा, त्रास, पाशवी वृत्ति आदि विषयो का प्राधान्य क्यो होता जा रहा है। लेखक ने इनके जो कारण बताये हैं उन पर विचार करके आज के साहित्यिको को चाहिए कि वे इस विकृति का शीघ्रातिशीघ्र निराकरण करे। 'मार्क्सवाद और सौन्दर्य-शास्त्र' एक विचारप्रधान लेख है जिसमे लेखक की अपनी मान्यताएँ कम और मार्क्स की विचार-सरणि अधिक है। 'औचित्य क्या ?' प्रश्नोत्तर के रूप मे लिखा हुआ एक तर्कप्रधान लेख है। तार्किक शैली में जो तीक्ष्णता, दंश और पैनी दृष्टि रहती है वह आद्योपान्त इस लेख मे है। शास्त्रीय आलोचना के मूल्य का निर्धारण करते समय लेखक का रुझान प्राचीन शास्त्रीय मर्यादाओ से हटकर आधुनिक मनोविज्ञान और समाज-विज्ञान की ओर रहा है। उसकी दृष्टि में सार्वजनीन रुचि के आधार पर ही आलोचना को विकसित होना चाहिए, वैयक्तिक अभिरुचि पर केन्द्रित आलोचना कदाचित् अपूर्ण ही होगी। किन्तु विचारणीय यह है कि शास्त्रीय शब्द को लेखक प्राचीन शास्त्र तक सीमित क्यो बनाना चाहता है ? इस लेख मे जिन प्रश्नो को उठाया गया है उनके उत्तर पाण्डित्य-पूर्ण होने पर भी एकान्त सत्य या पूर्ण नही कहे जा सकते। किन्तु लेखक के उत्तर इतने तर्कपूर्ण अवश्य है कि उन्हे एकदम अस्वीकार भी नही किया जा सकता। इसी लेख के अन्तिम भाग मे हिन्दी आलोचना की वर्तमान गतिविधि पर लेखक ने असन्तोष के धीमे स्वर मे शालीनतापूर्वक अपनी बात कही है जिसका समर्थन करने के अतिरिक्त और कोई चारा नही है। लेख मे व्यंग्यात्मक शैली से आलोचको और लेखको के प्रति जो कुछ कहा गया है उसे भी स्वीकार करना ही होगा, बात कडुवी भले ही लगे पर वह असत्य नही है। प्राचीन रस-सिद्धान्त पर प्रहार करते हुए लेखक ने अपना अभिमत बहुत ही स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया है कि "रस-सिद्धान्त कोई अटल वस्तु नही है। छन्द, अलकार, भाषा आदि बाह्यरूपो के समान ही इसकी भी नये सिरे से पुनर्व्याख्या होना आवश्यक है।" मैं समझता हूँ रस सिद्धान्त की मौलिकता मे कोई विशेष अन्तर आज भी नही आया है, हाँ, परिधि-विस्तार की दृष्टि से उसकी सीमाओ मे कुछ अन्तर भले ही पडा हो।

दूसरे भाग मे आधुनिक कविता के सम्बन्ध में लेखक ने चार लेखो मे अपने विचार प्रकट किये हैं। पहला लेख 'मर्मी कवियो की विरह व्यजना' बहुत ही रोचक, हृदयग्राही, भावना-प्रधान और काव्यमयी शैली का निबन्ध है। देश-विदेश के

मर्मी कवियो की विरह-व्यजना के सुन्दरतम उदाहरण इसमें यत्र-तत्र बिखरे पडे है जिन्हे पढते ही पाठक भावना द्वारा उस लोक में विचरण करने लगता है जहा प्रिया-प्रियतम के दिव्य रूप उसके अन्तर-नेत्रो के सामने आते है और उसे आनन्द-विभोर कर देते है। इस लेख के अन्त मे मर्मी कवियो की मन स्थिति तथा काव्य के सम्बन्ध मे लेखक ने बिना किसी दुराव के अपने दस निष्कर्ष प्रस्तुत किये है। मर्मी कवियो की रहस्यात्मकता, कामवासना, यौन-वर्जना, आत्म-रति आदि के विषय मे जो कुछ लेखक ने बिना लाग-लपेट के कहा है, उस पर पाठक को सहानुभूति-पूर्वक विचार करना होगा। लेखक के निष्कर्ष भले ही कुछ उग्र प्रतीत हो किन्तु वे नितान्त निर्मूल और असत् नही है। 'कविता और रहस्यवाद', 'छायावाद का भविष्य' और 'नयी हिन्दी कविता मे छन्द प्रयोग' आधुनिक हिन्दी कविता के सम्बन्ध मे विचारोत्तेजक लेख है जिनमे लेखक ने अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण रखा है। छन्दो के सम्बन्ध मे जो जानकारी लेखक ने दी है वह उपादेय है, छन्दो का प्रयोग करने वालो का इस लेख से पथ-प्रदर्शन होगा।

तीसरे भाग मे आधुनिक गद्य के विषय मे सात लेख है। पहला लेख राष्ट्रभाषा हिन्दी के गद्य के अभावो की ओर लक्ष्य करा के उसकी पूर्ति की ओर सकेत कराता है। लेख में दिये गये सभी परामर्श पूरी जानकारी पर अवलम्बित है अत हिन्दी-प्रेमियो का कर्त्तव्य है वह राष्ट्रभाषा की सेवा के लिए गद्य के उपेक्षित अगो की ओर ध्यान दें। माचवे जी स्वय उच्चकोटि के निबन्ध-लेखक (गद्यकार) है और उन्होने अपनी प्रतिभा द्वारा निबन्ध के विविध रूप हिन्दी को प्रदान भी किये है। व्यग्यात्मक शैली के हास-परिहासपूर्ण निबन्ध की छटा उनकी 'खरगोश के सीग' पुस्तक मे देखने में आती है। भारतेन्दु-युग के निबन्ध-लेखको मे जो ओज और प्रवाह था, जैसी मार्मिक अभिव्यजना तथा तीक्ष्णता थी, जैसी सजीवता और चोज था वैसा माचवे की शैली मे हमे देखने को मिला। क्या हम आशा करे कि हिन्दी गद्य की न्यूनताओ की ओर स्वय माचवे जी ही ध्यान देकर उसके अभावो की पूर्ति मे लीन होगे। नाटक की आधुनिक समस्याओ की ओर लेखक ने सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से विचार किया है। आज का मानव अपनी मनोग्रथियो से गुँथा हुआ कुछ ऐसा कुठित और विवश हो गया है कि उसे अपने इर्द-गिर्द की दुनियाँ मे अपने अभावो की छाया ही दृष्टिगत होती है। राजनीति हो या समाज सभी जगह वह अपनी दमित वृत्तियो का ककाल ढोता फिरता है। फलत आज के नाटको मे जो समस्या की भित्ति पर प्रतिष्ठित होते है—प्राय विषमताओ और कुठाओ को ही अधिक स्थान मिलता है। आज का नाटककार प्राचीन सीमा-मर्यादाओ मे आबद्ध होकर रचना नही करता। रूढियो के प्रति विद्रोह के साथ उसका आभ्यान्तर अन्तर्द्वन्द्व इतना प्रखर हो

गया है कि वह सामाजिक ढांचे में भी आमूल परिवर्तन चाहता है। लेखक ने बताया है कि पुरानी टेकनीक भी आज ग्राह्य नहीं रही गई है—नाटक एकदम बदल गया है। 'संस्कृत एकांकी के प्रकार, केवल परिचयात्मक लघु लेख है। 'हिन्दी-नाटकों की प्रगति' उसके नाट्य-साहित्य की क्रमिक गतिविधि का पर्यालोचन है। संस्कृत के साथ बंगला, मराठी आदि का प्रभाव भी लेखक ने दिखाया है। लेख के अन्त में जो माँगें पेश की गई हैं उन्हें स्वीकार करके उसकी पूर्ति के लिए हिन्दी-प्रेमियों को प्रयत्नशील होना चाहिए। 'भारतेन्दु के नाटकों में सामाजिक परिकल्पना' एक शोधपरक लेख है। यथार्थ में भारतेन्दु बाबू ही पहले व्यक्ति हैं जिन का ध्यान समाज-सुधार के लिए नाटकों को अपनाने की ओर गया। जीवन के विविध क्षेत्रों से सामग्री चयन करके उन्होंने अपने नाटकों का प्रणयन किया, इसी कारण उनके नाटक टेकनीक, भाषा, अभिव्यक्ति आदि में शिथिल होने पर भी प्रभाव में इतने परिपूर्ण और समर्थ हैं कि उनके बाद नाट्य-साहित्य की वैसी परम्परा कोई दूसरा नाटककार स्थापित नहीं कर सका। 'उपन्यास में मनोविज्ञान' और 'कहानी-कला' दोनों लेख हिन्दी कथा-साहित्य के विषय में अध्ययनपूर्ण जानकारी देते हैं। माचवे जी दर्शन-शास्त्र के गम्भीर अध्येता हैं, मनोविज्ञान की सूक्ष्म ऊहापोह करना उनके लिए सहज सुगम है अतः हिन्दी-उपन्यासों में मनोविज्ञान की अभिव्यक्ति को उन्होंने बड़े सुन्दर रूप से खोज निकाला है। 'कहानी-कला' टेकनीक के विषय में लिखा हुआ छात्रोपयोगी लेख है। कहानी लिखने की विविध शैलियों के वर्णन के साथ लेखक ने विविध देशों के कथाकारों के अभिमत प्रस्तुत करके कहानी की सीमा-मर्यादा का निर्धारण किया है। लेख पठनीय है।

'सन्तुलन' का संक्षेप में परिचय कराने के लिए मैंने भूमिका-रूप में जो कुछ ऊपर लिखा है कि उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। मैं जानता हूँ कि श्री माचवे जी को आज किसी भूमिका की आवश्यकता नहीं है। वे हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ कलाकार हैं। लेख, निबन्ध, कविता, कहानी सभी क्षेत्रों में उनकी अबाध गति है। परिमाण और गुण दोनों ही दृष्टियों से उन्होंने स्वस्थ, सुन्दर और विचारोत्तेजक विपुल साहित्य हिन्दी को दिया है। भूमिका लिखने का प्रसंग इस कारण आया कि 'सन्तुलन' में संकलित लेख माचवे जी के पास विशृंखल रूप में पड़े थे। उन्हें सम्पादित करके पुस्तकाकार बनाने की प्रेरणा मैंने उन्हें दी और लेखकों को आद्योपान्त पढ़कर इस रूप में बाँधा। यह सब हो जाने पर माचवे जी के भूमिका लिखने के आग्रह को मैं टाल नहीं सका। सचमुच मुझे गौरव प्रदान करने के लिए ही उन्होंने यह अवसर दिया है।

दिल्ली यूनिवर्सिटी,
दिल्ली।
२० जून, १९५४।

विजयेन्द्र स्नातक

विषय-सूची

प्रथम-भाग

(कला और साहित्य)

द्वितीय भाग

(आधुनिक कविता)

तृतीय भाग

(आधुनिक गद्य)

प्रथम भाग

कला और साहित्य

सन्तुलन

१

कला-समीक्षा की कुछ समस्याएँ

उक्ति प्रसिद्ध है—'निरंकुश कवय'। 'जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि', यानी कवि सदा अँधेरे में रहता है या किसी काल्पनिक चन्द्र-प्रकाश मे साँस लिया करता है, यह बात नहीं! परन्तु तुलसीदास यह भी कह गये है—

तसइ सुकवि-कवित बुध कहही,
उपजहि अनत, अनत छबि लहही।

कवि-मानस कल्पनाप्रधान होकर, स्वतन्त्र विचरण करने पर भी एक विशेष मर्यादा तक ही उस स्वातन्त्र्य का उपभोग कर सकता है। कोई कवि समझ-बूझकर यह आग्रह नही कर सकता कि मेरी लिखी हुई अर्थशून्य पक्तियो को पाठक कविता मानें ही। अत· प्रश्न वहाँ उपस्थित होता है जहाँ कवि या स्रष्टा तो कहता हो कि मेरी रचना अर्थवती है, वह जीवन के सस्पर्श से उपजी है और सचमुच कलाकृति है; परन्तु पाठक कहते हो—यह रचना तो हमारी समझ म नही आती, इसमें तो कोई यथार्थता है ही नही, अत यह कलाकृति ही नही। हिन्दी म अक्सर निराला जी की कविताएँ पढते समय और प्रसाद जी की कामायनी और महादेवी जी की कई सम्मिश्र उत्प्रेक्षाओ को पढते समय यह समस्या दरपेश रहती है। ऐसे समय दुर्बोध और सुबोध कविता या कलाकृति के बीच अच्छी-बुरी रचना का तारतम्य किस पर छोडा जाय? समालोचक नामक तृतीय पुरुष को पच मानकर फैसला करना भी कही-कही घातक हो जाता है—जब कि हमारे मान्य आलोचक-प्रवर प० रामचन्द्र शुक्ल तक, चौबीसवें हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, इन्दौर के अपने साहित्य-परिषद् के अभिभाषण म कह गये है कि "इधर हमारी हिन्दी में काव्य समीक्षा के प्रसङ्ग में 'कला' शब्द की बहुत अधिक उद्धरणी होने लगी है। मेरे देखने में तो हमारे काव्य समीक्षा क्षेत्र से जितनी जल्दी यह शब्द निकले उतना ही अच्छा। इसका जड पकडना ठीक नही।" और "म फिर जोर के साथ मानता हूँ कि यदि काव्य के प्रकृत स्वरूप की रक्षा इष्ट है तो उसका 'पीछा' इस 'कला' शब्द से जहाँ तक शीघ्र छुडाया जाय अच्छा है।" यह मैं मानता हूँ कि सब दुर्बोध कविताएँ एकदम नवीन होने के कारण अच्छी ही या बुरी ही नहीं होती,

उसी प्रकार मेरा विश्वास है कि सुबोध कविताएँ भी सब अच्छी ही होगी यह आवश्यक नही है। इसीलिए समालोचको के भरोसे रहना 'नीम हकीम खतरा-ए-जान' हो जाता है। जिस प्रकार दो ज्योतिषी एक ही व्यक्ति के सम्बन्ध मे दो परस्पर विरोधी भविष्य बताते है, वैसे ही एक ही रचना की दो परस्पर-विरोधी निष्पक्ष आलोचनाएँ हो सकती है। अन समालोचको को तो उन ज्योतिषियो की कक्षा में से एक मानना चाहिए, जो निकटतम जीवित व्यक्तियो के परिणाम की तो बात छोड़ देते हैं और दूरस्थित ग्रह-पिडो और अशनि-खण्डो 'नेब्युले' की गति का मानवी नियति पर जो परिणाम हो उसकी खोज किया करते है। किन्तु आज आलोचना के मापदण्ड बदल रहे हैं। गस्टॉव फ्लाबर्ट ने जॉर्ज सेण्ड को एक पत्र मे, जो २ फरवरी, १८७९, ई० को लिखा गया था, कहा है—"प्राचीन आलोचक एक प्रकार का वैयाकरणी होता था, वर्तमान आलोचक इतिहासकार है यथा सतबॉव या मस्यू टेन; अभी भी हम उस भविष्य की ओर आशा से ध्यान लगाये बैठे है जब आलोचक स्वयम् कलाकार होगा और जब आलोचना रचनात्मक साहित्य का एक अग होगी।"

कवि निरकुश चाहे लोगो की दृष्टि से हो, परन्तु उसे अकुश उसकी अपनी मानसिक दशा तथा सस्कारो का है, साथ ही देश काल परिस्थिति का भी प्रभाव भुलाया नही जा सकता। यानी यदि समालोचना को शास्त्रीय युग के वैज्ञानिक दृष्टि-कोण के साथ चलना है, तो उसे समाज-शास्त्र तथा मानस शास्त्र इन दो महत्त्वपूर्ण शास्त्रो से दृष्टि प्राप्त करनी ही चाहिए। समाज विज्ञान के अन्तर्गत राजनीति, अर्थ-शास्त्र, नृ-विकास-विज्ञान और प्राणी-शास्त्र का समावेश होता है—तो मनोविज्ञान की सहायता से कवि अथवा कलाकार के आन्तरिक मनोविकारो का, चेतन और अर्द्धचेतन मनोवृत्तियो का विश्लेषण हमे मिल सकता है। यहाँ मै कला समीक्षा के विषय मे समालोचक, कलाकार और रसिक दर्शक या श्रोता के दृष्टिकोण से कुछ विचार विचारार्थ प्रस्तुत करना चाहता हूँ। ये विचार प्रश्न रूप है। हल के सम्बन्ध में सुझाव अथवा अधिकार-वाणी से निर्णय तो इस निबन्ध के विवेकशील पाठक पर छोड़ दिये गये हैं। साथ ही मै जब वैज्ञानिक दृष्टिकोण, और समाज का और व्यक्ति का मनोविश्लेषण करने वाली दो भिन्न विज्ञान-पद्धतियो का उल्लेख करता हूँ, तब आप कदापि यह ग़लतफहमी न कर लें कि विज्ञान विचार-प्रधान होकर भी कलात्मक भावपक्ष को कभी भुला नही सकता। न दोनो में कोई विरोध ही मै पाता हूँ। कॉलरिज ने ठीक ही कहा था कि "गहरी भावनाओ से ही गहरा विचार निर्माण होता है।" साथ ही मुझे इसका भी पूरा ख्याल है कि समाज-विज्ञान और मनोविज्ञान दोनो प्रयोगावस्था में, अतएव अनिर्णीत विज्ञान है। उनके निष्कर्ष को हम अन्तिम मानें ऐसी कोई बाध्यता नहीं है फिर भी उनकी पद्धति का अवलम्बन हमे कला-निर्माण

और कला हेतु समझने में लाभदायक हो सकता है। समाज और व्यक्ति, समुद्र और लहरों की नाईं एक दूसरे में घुले-मिले हैं। उनमें 'प्रतीत्यसमुत्पाद' हम बुद्धि से क्यों निर्माण करें? अत सामाजिक वृत्तियों से वैयक्तिक प्रवृत्तियाँ भिन्न नहीं की जा सकती। सामाजिक तथा वैयक्तिक जीव विकास—ऑर्गनिज़्म्स—के प्राण एक ही हैं, रूप-मात्र भिन्न हैं। कला के रूप और स्वरूप की चर्चा आगे होगी ही।

आज हमारे समीक्षा-क्षेत्र मे कई भ्रान्त धारणाएँ फैला हुई हैं। यूरोप तक में एकाङ्गी और एकान्तिक सिद्धान्तों के कारण समीक्षा मे कैसा निरर्थक वितण्डावाद खडा हुआ था इसका अन्दाजा हमें एक वाक्य से हो सकेगा। यह वाक्य छठी अन्तर्राष्ट्रीय दर्शन-परिषद् १९२६ के सौन्दर्य-विज्ञान-विभाग में पढ़े गये मिस्टर पार्कर के एक निबन्ध के अन्तिम अंश में है। वे कहते हैं—"इच्छापरिपूर्ति और स्वयप्रेरित ज्ञान यह दोनो एक दूसरे से विभिन्न मूल्य नही है, कला में दोनो साथ-ही-साथ रहते हैं, यूरोपीय सौन्दर्य विज्ञान की समीक्षा-पद्धति का, जिसमें क्रोचे भी आ जाते हैं, यह प्रमुख दोष रहा है कि वह सदा एक या दूसरे पक्ष की उपेक्षा करता रहा है। क्रोचे ने स्वयप्रेरित-ज्ञान के आग्रह में भावपक्ष को बिलकुल भुला दिया, तो फ्रायड और दूसरे सवेदनवादी भावपक्ष के विचारकों ने क्रोचे के मत की ओर ध्यान ही नहीं दिया। हमें तो अगर पूछा जाय कि दोनो मे तुम्हें क्या चाहिये तो प्लेटो के शब्दों में हम बच्चों के समान कहेंगे—हमें दोनो दो।"

वास्तव में शॉपनहॉर-नीत्शे की जो अन्ध उर-स्फूर्त [ब्लाइण्ड विल] वाली तत्त्वधारा यूरोप में चली उसी की प्रतिक्रिया में नव्य आदर्शवादी, यथा बर्गसाँ या क्रोचे, खडे हुए—जैसे प्रथम पक्ष हेगेल-फिश्टे के अतिवादी अध्यात्म की प्रतिक्रिया में था। कला समीक्षा की सुविधा के लिए यह निबन्ध पाश्चात्य आदर्शवादी दार्शनिक परम्परा, मनोवैज्ञानिकों की ओर से आने वाले आक्षेप और सूचनाएँ, और अन्त में, स्वय कलाकार को क्या कहना है इन तीन भागों में बाँटा गया है।

२

कला-समीक्षा की आदर्शवादी दार्शनिक परम्परा मे कैण्ट, हेगेल, क्रोचे, ब्रैड्ले, बोजांके और जॉन ड्यूई आदि प्रमुख नाम सामने आते हैं। कॉलिगवुड के एक लेख का एक अवतरण भी सदर्भ में आयेगा।

कैण्ट के मत मे रूप-सौन्दर्य न तो अनुकरण से आ सकता है, न वह कुछ सिखाता है, न वह कोई इच्छापूर्ति करता है न नैतिक सिद्धान्त-विशेष का अनुमोदन करता है। सौन्दर्य ग्रहण में हमारा भावपक्ष एक प्रकार की लयमय क्रीडा में रममाण हो जाता है, जो क्रीडा किसी सिद्धान्त से परिचालित नहीं होती। वह तो स्वान्तः सुखाय होती है। यह लयमय क्रीडा, हम सतत चाहते हैं, केवल हमारी ही न रहकर

सब की हो जाय। अत सौन्दर्य का मूल्य निर्धारण एक ही बात कर सकती है कि वह सौन्दर्य सबके लिए सौन्दर्य हो। आगे चलकर कैण्ट दो तरह के सौन्दर्य मानता है—एक तो मुक्त या स्वतन्त्र सौन्दर्य, दूसरा आबद्ध या परावलम्बी सौन्दर्य। इस दूसरे प्रकार के अन्तर्गत, किसी सिद्धान्त-विशेष की तृप्ति की खातिर की जाने वाली रचना—चाहे वह सिद्धान्त मार्क्स-प्रणीत हो या गान्धी प्रणीत—और अच्छे अनुकरण या अनुवाद वाली रचना का समावेश होता है। पहला सौन्दर्य मौलिक कला और युग युगव्यापी साहित्य में अन्तर्हित है तो दूसरा सौन्दर्य फोटोग्राफिक या निरी हू-ब-हू चित्रण वाली कला से और युग सीमित साहित्य में रहता है। कैण्ट 'सुन्दर' और 'भव्य' या उदात्त के बीच म एक भेद पाता है। भावपक्ष जिसमें प्रधान हो वह सुन्दर, बुद्धिपक्ष जिसमें प्रधान हो वह भव्य। अत सुन्दर है आत्मनिष्ठ, और भव्य नि स्व। यह भेद यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ठीक नहीं। आगे चलकर उदात्त या भव्य के भी कैण्ट दो प्रकार बतलाता है—एक तो स्थितिमय भव्यता, दूसरी गतिमय। यह गतिमय भव्यता ही थी जो आगे हेगेल को अपने सौन्दर्य सिद्धान्तो मे सहायक जान पडी।

हेगेल ने 'ललित कलाओ का दर्शन' नामक एक ग्रन्थ लिखा है। इसमें वह कला-सम्बन्धी दो प्रश्नो को लेकर चलता है जिनके उत्तर वह नकारात्मक देता है। वे प्रश्न यो है—

(१) क्या कला वैज्ञानिक समीक्षा के योग्य नही ? और

(२) क्या कला का दार्शनिक विश्लेषण भी सभव नही ?

आगे चलकर वह सौन्दर्य और कला सम्बन्धी विभिन्न वैज्ञानिक पद्धतियो का—यानी अनुभव-जन्य प्रत्यक्ष, आनुमानिक अप्रत्यक्ष, काल्पनिक विचारात्मक [एम्पीरिकल, ऐब्सट्रैक्ट रीफ्लेक्शन, नोशनल कॉन्सेप्ट ऑव ब्यूटी]—उल्लेख कर निम्न निष्कर्षों पर पहुँचता है—

(१) कलाकृति प्राकृतिक नही है। वह मनुष्य द्वारा मूर्त होती है। प्रकृति उसकी भित्ति चाहे हो।

(२) मनुष्य द्वारा निर्मित होने पर वह मनुष्य के लिए ही निर्मित होती है।

(३) कम-अधिक प्रमाण में वह इन्द्रियगोचर माध्यम में, इन्द्रियगोचर होने के लिए ही निर्मित होती हे।

(४) कला की सीमा स्वय उसका उद्देश्य है। वह निरुद्देश्य नहीं हो सकती।

इस प्रकार हेगेल के साथ कला-समीक्षा-क्षेत्र से कैण्ट के भावपक्ष और बोध-पक्ष में निर्मित भेद क्रम होता है और कला को आदर्श के साथ जोडने का यत्न आरम्भ होता है। कला अनुकरण नही है, वह आदर्श-विशिष्ट की अनुगत मानवी

क्रिया है, यह धारणा हेगेल से आरम्भ हो जाती है।

हेगेल के बाद इसी विचार को नव्य-आदर्शवादी इटली के सौन्दर्य-वैज्ञानिक बेनेडेट्टो क्रोचे अपने 'एस्थेटिक' में अधिक सुस्पष्ट करते हैं और कला में आन्तरिक 'अनुभव'—शाङ्करदर्शन में 'इन्ट्यूशन' के लिए यही शब्द प्रयुक्त है—की प्रधानता बताते हुए कला में उस अभिव्यञ्जनावाद की परिपुष्टि करते है, जिस पर नाना प्रकार के प्रहार और आक्षेप हुए। क्रोचे मानव-जाति में अभिव्यक्ति के लिए आतुर होने वाली एक वृत्ति (अर्ज टु एक्सप्रेस) समस्त मानवी क्रियाओ के मूल म मानते हैं। और इस वृत्ति को वे तर्कातीत समझते है। उनके मत से यह अनुभूति-क्षण कला-क्षण है और वह तर्क-क्षण से भिन्न। तर्क-वृत्ति मनुष्य में बाद मे है। व्यक्त करने की वृत्ति तो जन्मजात है। यह वृत्ति ऐसी है कि इसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति एकप्राण है; वे भिन्न नही। यह अनुभव रहस्यवादियो वाला निरा साक्षात्कार नही है, और न व्यवहारवादियो का रीति चमत्कार। यह अनुभव चैतन्य है, अन्ध और अचेतन नही। इस अनुभव की भित्ति हमारी सवेदनाएँ सम्मिश्र और निरन्तर-परिवर्तनशील चाहे हो, अनुभव अनिश्चित नही होता। पुरानी अभिव्यञ्जना को नयी अभिव्यञ्जना मे परिणत होने से पहले इसी सवेदना की अवस्था में से गुजरना होता है। अत' केवल सवेदना यह अनुभव नही है। उदाहरण के लिए क्रोचे कहते हैं कि हम समझते है कि सुन्दर चित्र से हमें केवल आँख को सुख मिलता है। यह गलत है कि केवल आँख ही एक समय श्रम करती रहे। हमारा सुख या दु ख प्रतिक्षण हमारे पूरे चैतन्य व्यक्तित्व से, उसके सस्कार और आदतो से जुडा हुआ है। अत हम चित्रित फल में भी ताजगी और माधुर्य की परिकल्पना व्यक्त करते है, सगीत में भी दर्द और रुसवा की बात करते हैं, और कविता में भी 'चित्र-राग' का अनुभव करते हैं। कला में पलायन न होकर एक प्रकार की परितृप्ति होती है, चूँकि कलाकार का 'कु'-मन जो इतने समय तक क्रियाहीन था वह सक्रिय बनकर एक प्रकार की आत्मशुद्धि और स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार कलाकार में अत्यधिक वासनाएँ और अत्यधिक गाम्भीर्य, विकार और विचारो की एकसाथ तीक्ष्णता पायी जाती है। जो अत्यधिक गति में है वह स्थिर जान पडता है, जो मौन है वह अत्यधिक मुखरता का प्रमाण है। मै आगे चलकर बताऊँगा कि क्रोचे के साथ हिन्दी में अन्याय हुआ है।

बर्गसाँ ने इसी अभिव्यक्ति की उत्कण्ठा का समाधान अपनी 'जीवन-शक्ति' के सिद्धान्त से किया। उनके 'हास्य' नामक निबन्ध में वे बालको का हँसना उतना ही स्वाभाविक मानते है जितना वृक्ष के फूलो का फूलना। बर्गसाँ के साथ सौन्दर्य दर्शन और प्राणीशास्त्र का समन्वय हमें प्राप्त होता है।

एफ० एच० ब्रैडले के निबन्ध संग्रह में पृष्ठ ६१८ से ६२७ पर साहित्य में योन-विवरण को किस तरह लिया जाय इस प्रकरण में सौन्दर्य विज्ञान सम्बन्धी एक और आदर्शवादी सिद्धान्त मिलता है जो केवल पावनता के लिए पावनता चाहने वाले पाक परस्तो (प्यूरिटन्स) से भिन्न प्रकार का है। सौन्दर्य वैयक्तिक संवेदना से सदा ऊपर और अलग रहता है। सौन्दर्य मेरे अस्तित्व की शर्त बनकर नही रहता। सौन्दर्य वस्तुगत है। अत व्यक्ति को अवकाश नही है कि वह वस्तुओ को अपने विकारो में लिपटा हुआ ग्रहण करे। यह तटस्थता प्रत्येक कलाकार के लिए आवश्यक है। चूँकि कला स्वरत्यात्मक [सेल्फ इण्डलजेण्ट] नही है। इस तटस्थता या अनासक्ति से एक प्रकार की रसदशा निर्माण होती है जो सच्ची साहित्यिक स्वतन्त्रता के मूल में रहनी चाहिए।

ब्रैडले के शिष्य बोजा के तो एक कदम आगे चलकर क्रोचे के कला क्षण और तर्क-क्षण का भेद मिटाने को उद्यत है। अपने 'सौन्दर्य विज्ञान के सिद्धान्त नामक अत्यन्त सुन्दर उपादेय पुस्तक में वे एक जगह कहते है कि 'किसी तान की पूर्ति करने वाली आलाप, किसी नाद के साथ दूसरे नाद का इस तरह जुडना कि वह सरकारी कानो को सन्तोष दे, किसी रङ्ग-सङ्गति के लिए जरूरी रङ्ग योजना, यह सब इतनी आवश्यक और इतनी बुद्धियुक्त प्रक्रियाएँ है कि जसे तर्क में धारणाओ से एक निष्कर्ष निकालना।'

जॉन ड्यूई नामक सुविख्यात अमरीकन दार्शनिक की पुस्तक 'आर्ट ऐज एक्सपीरियन्स' इतनी विस्तृत और मार्मिक समीक्षा प्रस्तुत करती है कि उस पर तो स्वतन्त्र प्रबन्ध लिखना ही उचित होगा। परन्तु यहाँ उनके कुछ मुख्य मुख्य विचार देता हूँ। दो प्रकार के भाव जगत् म सौन्दर्यानुभूति असम्भव है—एक तो निरन्तर-परिवर्तन की अवस्था में, दूसरे किसी समाप्ति के या विनष्ट हो जाने के उपरान्त। सजीव प्राणी हवाई चीजो का निर्माण करता है, ऐसी हवाई कि जिससे कीट्स के शब्दो में सूर्य, चन्द्र, तारे आदि कवि-जगत् में विधाता की सृष्टि से कही भव्यतर और सुन्दरतम स्वरूप से अवतीर्ण होते है। कला हमारी प्रत्येक जीवन घटना के अन्तराल म है। कला प्रकृति की पूर्ति करती है; क्योकि वह प्रकृति को अर्थ प्रदान करती है। जीवन का अर्थ ही है संघर्ष—परिस्थिति और व्यक्ति के सतत संघर्ष में कला भी एक क्रिया है। कोई भी भाव वस्तु-विहीन नही हो सकता, नही तो भाव न रहकर एक अभाव, एक भासमात्र ही हो जायगा, यथा शरमाना, सकुचाना आदि। प्रत्येक अभिव्यक्ति के मूल में एक प्रकार की प्रेरणा होती है। अन्ध-प्रेरणा सोद्देश्य बनकर कला का रूप प्राप्त करती है। एबरक्रॉम्बी ने जिस तरह प्रेरणा या स्फूर्ति के दो प्रकार अपने 'काव्य-तत्त्व' नामक निबन्ध में किये है—एक स्फूर्ति या प्रेरणा तो वह जो

अभिव्यक्त होने में और होकर अपने आपका स्पष्टीकरण प्राप्त करती है, दूसरी वह स्फूर्ति या प्रेरणा जो स्वयं कविता बन जाती है—परन्तु जो स्फूर्ति या प्रेरणा स्व-पूर्त, स्व-सन्तुष्ट और स्व-सीमित (सेल्फ कन्टेण्ड और सेल्फ-सफीशेण्ट) है वह कोई अभिव्यक्ति खोजने ही क्यों जाय ? यह प्रश्न ड्यूई को उसी तरह सताता है कि जैसे शङ्कराचार्य को बौद्धों का प्रश्न कि यदि ब्रह्म निरीह है तो उसने 'माया' निर्माण ही क्यों की ? शङ्कराचार्य जैसे 'लोकवत्तुलीलाकैवल्यम्' कहकर छूट गये, वैसे शिलर कला को क्रीडावृत्ति का समाधान कहकर टालना या उसका महत्त्व कम करना चाहता है, या वॅहिंगर जैसे कहते हैं कि 'मानो' वह सत्य हो इस प्रकार के सत्याभास में आत्म-प्रलम्बन से (सेल्फ-प्रोजेक्शन इन ए वर्ल्ड ऑव मेक-बिलीफ) कलाकार अपनी आत्म-तुष्टि कर लेता है।

इस विषय मे कॉलिंगवुड और विल ड्यूरण्ट के नाम भी उल्लेखनीय है। पर वे मौलिक दार्शनिक न होकर विख्यात दर्शन-अध्येता हैं। उनमें से कॉलिंग्वुड को कला के रूप और स्व-रूप पर जो विचार 'जर्नल ऑव फिलॉसॉफिकल स्टडीज' के जुलाई १९२९ के अंक में पृष्ठ ३३२-४५ पर व्यक्त हुए हैं वे इसी सन्दर्भ में आवश्यक समझकर देता हूँ। टॉमस हार्डी जो कृषकों के चित्रण में असफल है, स्त्रियों के चित्रण में विख्यात हो जाता है, टर्नर जो जहाज के प्रत्येक भाग की रेखा-रेखा दिमाग से कैन्वस पर उतार सकता था, मानवी आकृति बनाते समय वह एकदम असफल हो जाता है। इसका क्या कारण है ? कलाकार दो तरह के होते हैं—एक तो वे जो अपनी कला-वस्तु के लिए मानो प्रतीक्ष्यमान हैं; दूसरे वे जो स्वयं जाकर कला-वस्तु को पकड़ लेते हैं। पहले रोमैंटिक कलाकार है, दूसरे क्लासिक। क्लासिक लकला में रूप की महत्ता है, रोमैंटिक में स्वरूप की। क्लासिकल कलाकार का 'कैसे' कहा जा रहा है इस पर जोर है तो रोमैंटिक का 'क्या' पर। मगर रोमैंटिक के खिलाफ विद्रोह करने से ही क्लासिकल नही हो जायगी।

२

कला-समीक्षा सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली आलोचक की कठिनाई का कुछ समाधान दार्शनिकों की ओर से हुआ। मगर मनोवैज्ञानिकों से उसके सम्बन्ध में पूछताछ करने पर समस्या सुलझती नहीं और जटिल बनती जाती है। मनोवैज्ञानिकों की ओर से कला-समीक्षा के मानदण्ड-सम्बन्ध मे तीन-चार प्रमुख उत्तर मिलते है :—

(१) फ्रायड आदि मनोविश्लेषकों के मत से कला का मूल स्वप्न, दिवास्वप्न आदि अर्द्धचेतन मानस के स्तर में पाया जाता है।

(२) युङ्ग आदि के मत से यह केवल अर्द्धचेतन न होकर चेतन के साथ

उसके सरबन्ध पर यानी एक प्रकार की सग्राहक समाधि से है।

(३) मैकडूगल आदि के मत से कला का मूल आदिम-वृत्तियो के विकास और सस्कार म अन्तर्हित है, तो

(४) गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिको के मत से कला का आदि-बिन्दु है एक प्रकार की मनस्तत्व की समग्र कलाओ का भटकना और लौट आना, फिर भटकना और फिर लौट आना। या हॉब के अनुसार उसे 'सश्लिष्ट सोदर्य बोध' (सिनेस्थीजिया) भी कह सकते ह।

फ्रायड का आत्मनिष्ठता पर अधिक जोर है। वह काम-वासना को प्रमुख धुरा मानकर उसके आसपास मनुष्य की ललित-कलाओ और अन्य प्रदर्शन की भावनाओ को बॉधना चाहता है। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से वह काम वासना के साथ ही कलावृत्ति को जोड देता है। यह एकान्तिक विचार अब प्राय कई मनोवैज्ञानिको को अमान्य है, यद्यपि काम-वासना एक प्रबल प्रवृत्ति है जो मनुष्य के आचार-विचारो-च्चारो को आच्छन्न कर डालती है, यह हम स्वीकार करना होगा। कला के मूल में स्वप्न तत्त्व के पक्ष मे कई उदाहरण दिये जाते है। बलजाक का वह अवतरण दिया जाता है जिसमें उसन कहा है कि उन श्रमिक स्त्री-पुरुषो के समूह में मुझे ऐसा लगा मानो मै उनमे से एक हूँ, मेरे पैरो मे भी वैसे फटे जूते है, तन पर भी गन्दे चीथडे। या गेटे के आत्मचरित्र से और टगोर की जीवन-स्मृति से ऐसे अश दिये जा सकते है। हिन्दी की अधिकाश छायावादी कविता ऐसी ही स्वप्न-परिचालित है। हेवलॉक एलिस ने कहा ह कि ये स्वप्न स्वप्नद्रष्टा के व्यक्तित्व का पृथक्करण होते है।

युङ्ग आदि के मत से स्वप्न से अधिक उस स्वप्न के आधेय, प्रतीक या सकेत माध्यम का महत्त्व है। उसी माध्यम के महत्त्व के आधार पर थॉरबन ने अपने 'कला और अचेतन मानस' में कलाकारो की 'सचयन और समाधि' (सेलेक्टिव मेडीटेशन) कहा है। कलाकार किसी एक विशिष्ट वस्तु से ही क्यो प्रभावित होता है, अन्य से क्यो नही? इसका उत्तर केवल स्वप्न-विश्लेषण न दे सकेंगे। स्वप्न हमारे अर्द्धचेतन मानस स्तर से ऊपर आते है, जब मन का कुछ भाग खुला होता है या घुल-पिघल जाता है। मगर मन तो और भी गहरा है। अचेतन मन में कई सस्कारो ने जड पकड ली है। वे ही ऊपर उठते है। जैनेन्द्रकुमार के नये उपन्यास 'कल्याणी' मे कल्याणी का 'जगन्नाथ का मन्दिर' ऐसे ही एक नारी के अचेतन स्तर के रूढि से दबे मन का बडा मार्मिक उच्छ्वास है। या 'शेखर' में सीखचो म बन्द रहकर जुही के फूलो के साथ भटकने वाला शेखर की स्मृतिमालिका का चित्रण। इसी कलाकारो के 'सचय और समाधि' को मराठी के सुविख्यात दार्शनिक-औपन्यासिक ने कई वर्ष पूर्व साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष पद से 'सविकल्प समाधि' कहा था, जो योगियो के

'निर्विकल्प समाधि' से भिन्न है।

•मैक्डूगल कला में सामाजिक तत्त्व को प्रधान मानता है और व्यक्ति के विकास को गुंजाइश देता है। अतः उसके मत से हमारी आदिम-वृत्तियों के निरोध, और प्रतिक्रिया और प्रगति और उत्तोलन (सब्लिमेशन) में कला का विकास निहित है। आधुनिक प्रगतिशील आलोचक भी इसी वस्तुवादी पद्धति का अवलम्बन करते हैं। यद्यपि उनके समकालीनों के निर्णयों में कभी-कभी जल्दबाजी और अनावश्यक असहानुभूति का प्रवेश हो जाता है, यथा साहित्य-परिषद् के सभापति नन्ददुलारे वाजपेयी के भाषण में जैनेन्द्रकुमार के उपन्यासों पर आक्षेप या शिवदानसिंह जी की आधुनिक कविता की आलोचना में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की रचनाओं को ध्वंसवादी करार देना, या प्रकाशचन्द्र गुप्त का 'महादेवी वर्मा' या शांतिप्रिय द्विवेदी पर लेख प्रगतिशील आलोचना का नमूना मानना, आदि।

गेस्टाल्टपंथी मनोवैज्ञानिक यह मानकर चलते हैं कि हमारे अनुभव कभी भी जीवन के टुकड़ों के आंशिक चित्र न होकर समग्र जीवन का संश्लिष्ट संवेदनाएँ होती हैं। उनकी दृष्टि से कला-समीक्षा कभी भी विवरणात्मक न होकर, सामग्रय को प्रधान लक्ष्य मानकर परिणाम (इफेक्ट) की आलोचना होती है। जैसे सीज़ान नामक सुविख्यात फ्रेंच चित्रकार ने एक जगह कहा है कि रचना और रंग दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। दोनों एक साथ ही चित्रकार के मन में जाग्रत होती हैं। इस प्रकार की संश्लिष्टता हिन्दी आलोचकों में कतिपय अपवाद छोड़कर कहाँ मिलती है। आँन्द्रे का एक अवतरण जो क्रोचे ने अपने 'सुखवादी सौन्दर्यदृष्टि की आलोचना' नामक अध्याय में दिया है, यहाँ आवश्यक है—"कला का सौन्दर्य, प्रथम दर्शन से कल्पना को क्या कुरेद मिलती है इस पर अवलम्बित न रहकर उस कलाकृति के मूल में जो सौष्ठव रहता है, उस पर अवलम्बित है।"

मनोवैज्ञानिक आलोचनाओं का उपयोग बहुत सँभाल के साथ होना चाहिए। अन्यथा मनोविज्ञान के नये सिद्धान्त पक्षान्ध आलोचकों के हाथ में पड़कर कैसा विद्रूप नजारा प्रस्तुत कर सकते हैं इसके उदाहरण हिन्दी में ढूँढ़ने के लिए दूर नहीं जाना होगा। मैं नाम गिनाना नहीं चाहता, समझदार पाठक स्वयं ऐसी नित्य और अनित्य स्वरूप की आलोचनाओं में विवेक कर लेंगे। मनोविज्ञान ने आलोचना को यदि कुछ दिया है तो वह भावना, बुद्धि और संकल्प में तारतम्य निर्माण है। उसे भूलकर आलोचना कुछ बना नहीं सकती है, या फिर भटक सकती है।

४

अब कलाकार-आलोचकों की ओर से पाँच-सात वाक्य मैं पेश करना चाहता हूँ, जिसके उपरान्त हिन्दी आलोचना-क्षेत्र में मची हुई धाँधली के कुछ कारण देकर

लेख समाप्त करूंगा—

१ नीत्शे मानता था कि हमारी धर्म-सस्था, नीतिमत्ता, दर्शनशास्त्र सब अधोगति की अवस्था में है। एसी स्थिति में एक ही उपाय योजना है—'कला'।

२ इब्सन का कथन है कि जीने का अर्थ है उन दैत्यो से सतत युद्ध जो हमारे मन और बुद्धि को आच्छन्न कर डालते है, और लेखन का अर्थ है खुद को बुलाना और कहना कि इस लडाई में निर्णायक का काम करो।

३. अनातोल फ्रान्स कहते थे कि उनकी एक किताब में इतने उपन्यास है जितने कि पाठक—प्रत्येक व्यक्ति के अनुसार उनकी पुस्तक का परिणाम भिन्न रहता है।

४ पॉल वेलेरी ने अपने पात्र के मुँह से कहलवाया है—कला मात्र रुचि-निभर है। कलाकार तो वहाँ से आरम्भ करता है जहाँ परमात्मा भी रुक जाते है।

५ कॉलरिज का यह मत भी हमे ध्यान म रखना चाहिए कि सच्ची कलाकृति तो वह है जिसम पाठक निरी यान्त्रिक प्रक्रिया से या मजिल के कुतूहल से परिचालित होकर न चले वरन् रचना के रसग्रहण की यात्रा मे पग-पग पर वह आनन्दास्वाद लेता चले।

६ क्लाइव बेल अपनी 'कला' नामक पुस्तक म कहते है कि समाज कलाकार को प्रत्यक्ष रूप से, अतः कला को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। विश्व के सब कलावत याचक बनें, क्योकि कला और धर्म को पेशा नही बनाया जा सकता। पेशा बनाकर उन्हे नष्ट अवश्य किया जा सकता है। सच्चे कलाकार कला को पेशा इस-लिए नही बनाते कि वे रचना करने के लिए जीते है, जीने के लिए रचना नहीं करते।

७ ऑल्डूस हक्स्ले ने अपने 'वर्ड्स्वर्थ यदि उष्ण कटिबन्ध में होते तो' नामक निबन्ध में 'काव्य और भोग परस्पर विपरीत वस्तुएँ है' ऐसा मानने वाले पाकपरस्त आलोचको को बडी अच्छी फब्तियाँ सुनायी है—ब्लेक कवि ने मिल्टन के विषय में कहा था कि वह कवि न होकर अनजान रूप से शैतान का साथी है। प्रत्येक मनुष्य में ऐसा गरीब शैतान रहता है जिसको सब ओर से सहायता और अनुमोदन की आवश्यकता होती है। कलाकार इस शैतान का स्वाभाविक प्रतिपादक है। मुझे उस टॉल्स्टॉय पर दया आती है जो केवल उपदेशक बना रहा।

८ जर्मन कवि गेटे ने कवियो में दो तरह के साहित्य-विलासी (डिलेतांते) माने है—एक तो वे जो काव्यात्मा व्यक्त हो जाय इतना ही काफी समझते है और काव्यरूप की उपेक्षा करते है; दूसरे वे जो काव्यरूप की बारीकियो में यानी प्रास-अलकारादि में उलझकर काव्यात्मा की हत्या करते है। दोनो की कला असफल है।

६ निराला जी की कविता को दुर्बोध मानने वाले पाठक से मैंने शुरू किया था, उसे मैं शौपेनहार का यह वाक्य भेंट करना चाहता हूँ—जब एक पुस्तक और एक दिमाग एक दूसरे से टकराते है, और दोनो में से किसी एक से खोखलेपन की आवाज आती है, तब क्या यह जरूरी है कि वह वह किताब ही हो, निन्यानवें प्रतिशत उदाहरणो में वह पाठक का दिमाग ही होता है।

हिन्दी में सौन्दर्य-विज्ञान सम्बन्ध में और कला-समीक्षा के सम्बन्ध म गम्भीर आलोचनाओ की ओर जितना चाहिए उतना ध्यान नहीं दिया गया है। स्व० पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, लक्ष्मीनारायण सिह 'सुधाशु' आदि कुछ आलोचको को छोडकर अन्य किसी ने इस विषय को छुआ नही है। आचाय रामचन्द्र शुक्ल बहुत बडे आलोचक थे, वे समालोचको के भी समालोचक थे, पर क्रोचे के साथ इन्दौर वाले अपने भाषण में और 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' नामक द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ वाले अपने निबन्ध में वे अन्याय कर गये, यह आलोचना के एक निष्पक्ष इतिहासकार को मानना ही होगा। आई० ए० रिचर्ड्स को अधिक महत्त्व देकर, काव्य में लोकपक्ष और मगल-भावना के व्यक्तीकरण के आग्रह में सवेदनावादियो, मूल्य विधानवादियो आदि के प्रयोगो को उन्होने बिलकुल नगण्य कर डाला था। 'कला के लिए कला' वाली बात को जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए। एक क्या अनेक क्रोचे उसे फिर जिला नही सकते। और 'वास्तविक स्थिति की अनुभूति एक बात है, अभिव्यजना दूसरी बात' (पृ० ८६) आदि इन्दौर वाले भाषण में उनके कई वाक्य है जो क्रोचे को ठीक से व्यक्त नही करते। मुझे इस प्रकार स्वर्गीय आचार्य के पाण्डित्य या आलोचना-शक्ति में तिलमात्र भी सन्देह या शका नही करना है। केवल यही कहना है कि जब इतने बडे आलोचक तक मे कही कही एकागीपन आ जाता था, तब अन्य आलोचको का तो कहना ही क्या! किसी भी आलोचक को, चाहे वह वैज्ञानिक हो अथवा कलाकार, अपने आपको अन्तिम निर्णायक नही मानना चाहिए। सक्षेप में हिन्दी में कला-समीक्षा मे मैने, अपने आलोचको में निम्न अभाव पाये है, जिन्हे सक्षेप मे गहराई का अभाव और ऊँचाई का अभाव कह सकते है। गहराई के अभाव के अन्तर्गत आलोच्य कलावस्तु के अन्तरग में प्रवेश करने वाले गहरे अध्ययन और सहानुभूति का एक साथ न रहना, जल्दबाजी और एकागीणता (प्रगतिशील आलोचको में से भी कुछ इसी एकागीणता के शिकार है) आदि दोष आ जाते है। ऊँचाई के अभाव में किसी आदर्श नीति मूल्यो की भित्ति का आलोचको मे अभाव, रुचि का सस्तापन यानी सस्कारिता का अभाव, और सबसे घोर दोष जो आ जाता है वह है आलोचको में प्रामाणिकता का अभाव। वह आलोचना वन्ध्या है जो विचार-आचार उच्चार में एकता उत्पन्न न कर सके और जो उस एकता से न उत्पन्न हुई हो।

अन्त में, आधुनिक कला-प्रयोगों के प्रति और कलाकारों के प्रति समालोचकों को अधिक सहिष्णु होने की प्रार्थना करते हुए मैं आई० जी० कैम्पबेल के 'ऑब्जेक्टिव फॉर्म एण्ड इट्स रोल इन एस्थेटिक्स' का एक वाक्य देना चाहता हूँ—"नवीन युग के साथ आधुनिक कलाकारों को नवीन दृष्टि प्राप्त होती है और उस नवीन दृष्टि से वह नये रूप-विधान प्रस्तुत करता है। यह रूप विधान वह केवल नवीनता के लिए नहीं निर्माण करता वरन् वह उसकी नयी दृष्टि का परिणाम है।"

"ए परफेक्ट जज विल रीड ईच वर्क ऑव विट
विद द सेम स्पिरिट ऐज़ इट्स ऑथर रिट।"

—पोप

२

आधुनिक साहित्य और चित्रकला

चीन की चित्र-लिपि और हमारे यहाँ के प्राचीन काकु और चित्र बन्ध काव्यो अथवा सचित्र पोथियो तक ही साहित्य और चित्रकला का सम्बन्ध नही रहा है। कई प्रसिद्ध कवि चित्रकार रहे है, यथा विलियम ब्लेक और रौजेटी। और लियोनार्दो दा विंची जैसे श्रेष्ठ चित्रकारो ने इतालवी भाषा मे सुनीत (सॉनेट) लिखे है। हमारे यहाँ इन दो कलाओ मे, यानी लेखन-कला और साहित्य-कला मे इतना अधिक सामञ्जस्य मध्य युग मे कम रहा है। यद्यपि प्राचीन-काल में शिल्प-शास्त्र मे इन्द्रिय-सवेद्य अनुभवो की मौलिक एकता मानी जाती थी, 'श्रवण दर्शन चैव स्पर्शन घ्राणमेव च। एव चतुर्विध प्राहुर्विज्ञान शिल्प-वेदिन.॥' वस्तुत. आज के मनोवैज्ञानिक भी मानते है कि हमारी अनुभूति एक समग्र (गेस्टाल्ट) वस्तु है। अत. उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम पात्र भिन्न होने से, उसमे की विषय-वस्तु भिन्न नही हो जाती।

परन्तु माध्यमो में यान्त्रिक विकास होने के साथ ही हमारे कला विषयक आलोचनात्मक मानो में परिवतन अवश्यम्भावी रूप से घटित हुआ है। आदि-मानव के गुहा चित्र, अथवा बाग-अजता के भित्ति चित्र तथा मध्य-युगीन मुसव्विरी के बाद आज की अत्याधुनिक कला के युग तक मनुष्य को सभ्यता ने कितनी प्रगति की है! स्पष्ट है कि हमारा कला-विषयक दृष्टिकोण भी वही नही रहा है, जैसे कि कलाकार की सूक्ष्म भावना और स्थूल तूलिका (अथवा लेखनी) वही नही रही है।

विशेषत यथार्थ चित्रण में यह भेद और भी स्पष्ट हो उठा है। कैमरे की शोध और प्रचलन के बाद चित्रकला मे यथार्थ के प्रति हमारी दृष्टि मे आमूल परिवर्तन हो गया है। पहले फोटोग्राफ जैसे यथार्थवाद पर जोर था, स्त्री पुरुष मासल, उनकी त्वचा के रग स्निग्ध और प्राकृतिक दृश्य भी यथावत् बनाने की ओर विशेष परिश्रम किया जाता था परन्तु जो काम यन्त्र एक सेकण्ड-खण्ड में घटित कर देता है, और अधिक अच्छी तरह करता है, उसके लिए मानुषी शक्तियो का अपव्यय क्यो? अत चित्रकार अब वह चित्रित करने लगा जो कि उसके मन पर बिम्बित होता था। शिल्प शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में वह चित्राभास से चित्र-लेखन की ओर बढा, और अब चित्र-लेखन से भी अधिक साकेतिक अथवा प्रतीकात्मक चित्र लिपि की ओर आ रहा है। यानी अब उसके रेखा और वर्ण स्वतन्त्र रेखा और वर्ण-मात्र न

रहकर, किसी अमूर्त, अचेतन भाव के संकेत होते हैं।

प्राचीन काल के चित्रों में प्राकृतिक दृश्यांकन और मानवी चित्रांकन के स्पष्ट भेद किये गये थे। किसी दृश्य के भागों का परस्पर प्रमाण, उनमें आकाश-धरती का स्थान, यथार्थता, दूर की और पास की चीजों का सापेक्ष आकार-प्रक्षेपण आवश्यक था।[1] और सचेतन चित्रों में स्वभावानुसार चर्या, उनमें विभिन्न अनुभवों की भाप, शरीर की रचना, उसकी विभिन्न मुद्राएँ, रंग-संगति आदि छः गुण आचार्यों ने बताये हैं।[2] इस प्रकार की हमारी प्राचीन चित्रकला की जो प्रतिकृतियाँ विदेशों में गईं उनका रेम्ब्राँ जैसे विदेशी चित्रकारों के रेखांकन पर भी प्रभाव पड़ा है, ऐसा हैवेल का मत है।

यह सब प्राचीन भारतीय चित्रकला विषयक चर्चा आधुनिक कला और साहित्य के सम्बन्ध और उसके भविष्य के लिए आवश्यक थी। समाज-विज्ञान से साधारणतः परिचित कोई भी व्यक्ति यह मानने को तैयार नहीं होगा कि मनुष्य-स्वभाव इतने हजार वर्षों में एक सा रहा है। यह असम्भव है। आधुनिक यन्त्र-युग में आकर मानव-व्यक्ति और मानव समूह की मानसिक दृश्य-पटियाँ बहुत भिन्न संघर्षमयी और द्वन्द्वपूर्ण हो गई हैं। इस घटना का प्रभाव हमारी कलाभिव्यक्ति पर भी पड़े बिना नहीं रह सका है। पाब्लो पिकैसो की कला इसका एक सफल उदाहरण है। उसके चित्रों में जो असंगति, दुरूहता, विलक्षणता जान पड़ती है वह उसने अर्जित की है। वह बुद्धि पुरस्सर है, परन्तु पिकैसो की नकल पर हमारे कई चित्रकार और शिल्पी एक हलकी सी अर्थहीनता को कला में अद्भुत प्रयोग मानकर या तो पुराने ग्राम-पटों

---

१ स्थान प्रमाण भू लंबो मधुरत्व विभक्तता ।
सादृश्य क्षयवृद्धि च गुणाष्टकमिद स्मृतम ॥
स्थानहीन गतरस शून्यदृष्टि मलीमसम् ।
चेतनारहित वा यत्तद्यस्त प्रकीर्तितम् ॥
तरगाग्नि शिखाधूम वैजयन्त्यबरादिकम् ।
वायुगत्या लिखेद्यस्तु विज्ञेय स तु चित्रविद् ॥

२ सुप्त च चेतनायुक्त मृत चैतन्यवर्जितम् ।
निम्नोन्नतविभाग च य करोति स चित्रविद् ॥
रूपभेदा प्रमाणानि भाव लावण्यमेव च ।
सादृश्य वर्णिकाभग इतिचित्र षडगकम् ॥
रेखा प्रशसन्ति आचार्या वर्तना च विचक्षणा ।
स्त्रियाभूषणमिच्छन्ति वर्ण्याढ्यमितरेजना ॥

की पुनरावृत्ति कर रहे है या इस भूमि से सर्वथा भिन्न प्रकार के वायवी, आकाश बेल जैसे चित्र बना रहे है जिनका भविष्य शून्य है।

चित्रकला में (और साहित्य में भी) सामाजिक आशय वर्णाढ्य होकर सर्वसाधारण को प्रिय बन सकता है। परन्तु वह विज्ञापन-चित्रकला, या पोस्टर-मात्र है। पोस्टर का अपना मूल्य होता है। वह लोक-कला भी हो सकती है, परन्तु आलोचना के हमारे मान पोस्टर जैसे स्थूल मान नही हो सकते। जिन लोगो ने ऐसे भद्दे मानो का आश्रय लिया है, वे फूहड समाज शास्त्रीयता की गलती कर बैठे है। कला में सामाजिक आश्रय वैयक्तिक अनुभूति की प्रगाढता में एकरूप बनकर ही व्यक्त होता है। अन्यथा वह प्रभावहीन होकर रहेगा। तोता-रटन्त या अनुकरण-कला की व्यजना का सबसे बडा शत्रु है। चाहे आज के जमाने मे कला-मात्र को 'अनुकरण'-मात्र माना जाता रहा हो।

परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नही कि कोई भी प्रत्यक्ष कला (चाहे चित्र या शिल्प या साहित्य) इतनी वैयक्तिक हो जाय कि वह अपनी प्रेषणीयता खो बैठे। अत्याधुनिक कला में यही खतरा प्रधान हो उठा है। स्पष्ट है कि मेरे दु ख-दर्द पूर्णत. आपके नही हो सकते। परन्तु फिर भी मेरे आपके सबके ऐसे दु ख-दर्द जरूर है कि जिनका समाधान कला के माध्यम से अपेक्षित है। फिर कुछ ऐसे भी अस्तित्ववादी मिल सकते है जो पूछें कि कला का कार्य रोग-चिकित्सा और रोग-निदान भी क्यो हो ? यदि युग रोग-ग्रस्त है, तो कलाकार उससे बचकर निरे स्वास्थ्य-लोक के सपने जैसे नही ले सकता, तो उस रोग के शिकार की भाँति घुल-घुलकर मर मिटने की तसवीर क्यो न सामने रखे। निवेदन है कि इस तरह की तसवीर किसी की मदद नही कर सकती, स्वय कलाकार की भी नही। अत कला में अनिवार्यत विकृतियो के अकन नही, परन्तु उसके परिमार्जन की अपेक्षा है। सुररियलिज्म (अतियथार्थवाद) आदि रुग्ण, विकृति-प्रधान अभिव्यजनाओ की प्रवृत्तिया आधुनिक साहित्य और कला में पाई जाती है। परन्तु सच्ची सामाजिक यथार्थता इनसे परे किसी स्वस्थ भावी को भी देखती है।

यो मेरे निकट मानव की सौन्दर्य-बोध और आनन्द-शोध की मूल प्रवृत्ति सर्वत्र एक-सी होने के कारण चित्रकला में अभिव्यक्त एक प्रकार की आलोचना और साहित्य में दूसरे प्रकार की आलोचना-दृष्टि नही हो सकती। हम एक ओर पिकासो और जामिनी राय को तो मानें, परन्तु साहित्य में प्रयोगवाद की खिल्ली उडायें यह कुछ कम समझ में आने वाली बात है। समाज और व्यक्ति के अन्त सघर्ष के कई रूप होते है—एक तो बाह्य, स्थूल द्वन्द्व है जिसे वर्ग-विभेद के नाते मार्क्सवादी आलोचको ने बहुत स्पष्टत सामने रखा है। परन्तु कलाकार यदि अधिक सवेदनशील और सूक्ष्मचेता

हुआ तो उसके मन पर पडने वाले प्रभावो की हम उपेक्षा नही कर सकते। अन्तर्द्वन्द्व बाह्यसघर्ष का एक अनिवाय परिणाम भी हो सकता है। अत आलोचक के लिए दृष्टव्य यह है कि वह अभिव्यजना कहा तक हमें प्रगति की ओर यानी अधिकाधिक सामाजिक कल्याण और वैयक्तिक मुक्ति की ओर ले जाती है।

३

वास्तु और शिल्प-कला

स्थूल ललित-कलाओं में चित्र कला से निकट की कलाएं हैं शिल्प कला और स्थापत्य। शिल्प के अन्तर्गत भास्कर्य, पूर्ण या अर्द्ध-उत्कीर्ण मूर्ति-निर्माण जैसे आ जाते हैं वैसे ही शिल्प-शास्त्र शब्द प्राचीन काल में बहुत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जैसे मालविकाग्निमित्र में 'पात्रविशेषन्यस्तगुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः' कहा गया है।

शिल्प के बहुत विशाल और सुन्दर नमूने प्राचीन ऐतिहासिक मन्दिरों में मिलते हैं। श्रवणबेलगुली या बरवानी के पास की जैन विराट्-मूर्तियों के साथ ही सुन्दर प्रस्तर-शिल्प के उदाहरण एलुरा, भरहुत, कोशाम्बी, साँची, अमरावती और नीटा में प्राप्त मूर्तियों में मिलते हैं। जगन्नाथ पुरी और कोणार्क के मन्दिरों की भाँति चाँदा जिले में सावली ग्राम के निकट वाणगंगा पर मार्कण्डेय मन्दिर का शिल्प भी मेरी स्मृति पर सदा के लिए अंकित है। वैसे इन पंक्तियों के लेखक ने कई महीने कलकत्ता, मथुरा, सारनाथ, प्रयाग, बड़ौदा और दिल्ली के प्राचीन शिल्प संग्रहालयों के सूक्ष्म अध्ययन में और उनकी प्रतिकृतियों के अंकन में बिताए हैं। 'प्रतिमा' मासिक (कानपुर) के द्वितीयांक में 'प्राचीन भारतीय शिल्प में पशु-पक्षी' नामक सचित्र लेख तथा विक्रम-द्विसहस्राब्दी-ग्रन्थ में उज्जयिनी के मन्दिरों से शिल्प तथा वास्तु के कई चित्र (जो बिना मेरे नामोल्लेख के लेखों के शीर्ष-चित्र तथा पुच्छ-चित्र के नाते प्रयुक्त हुए हैं) इसके साक्षी हैं। 'कला-निधि' के लिए भी मेरे कई मूर्ति-चित्र अभी अप्रकाशित हैं।

पाश्चात्य शिल्प-कला के विकास का, विशेषतः यूनानी और इतालवी शिल्पकारों की—यथा माइकेल एंजलो और एपोनियस आदि की महान् शिल्प कृतियों के चित्रों का भी अध्ययन मैंने किया है। और उत्तरोत्तर मध्य युग में, गिरजों के अलंकरण में या राजा या सामन्तों के अश्वारूढ़ या अन्य प्रकार की व्यक्ति मूर्तियों में से होते हुए आधुनिक शिल्प-कला रोदाँ, एपस्टाइन और हेनरी मूर के युग तक कैसे विकसित हुई है, यह पूरा इतिहास कम मनोरंजक नहीं। तभी यूनानी अस्थि-पात्र पर अंकित मूर्तियों से प्रभावित होकर कीट्स ने 'ओड' लिखा और प्री राफेलाइट दल में एक कवि स्वयं शिल्पी था। हमारे यहां ऐसे उदाहरण कम हैं जो स्वयं साहित्य-स्रष्टा या कवि हों, और साथ ही शिल्पज्ञ भी। भारत में जो शिल्प इतना सुविकसित था कि त्रिमूर्ति और नटराज और तारा की भव्य और सुन्दर प्रस्तर, कांस्य और मिट्टी की मूर्तियाँ ग्यारहवीं-

बारहवी सदी तक मिलती है, वह मध्ययुग में निर्जीव अनुकरण में पडकर नष्ट-प्राय हो गया। उसका आधुनिक विकसित पश्चिम प्रभावित रूप कुछ गिने-चुने नामो म ही प्राप्त होता है, जैसे महाराष्ट्र में म्हात्रे, र० कृ० फडके, करमरकर, बाकरे आदि बगाल मे देवीप्रसाद रायचोधरी, सुधीर खास्तगीर, रामकिकर, प्रदोषदास गुप्त आदि। भारत में यह कला अभी पर्याप्त मात्रा में विकसित नही हुई है।

शिल्प से अधिक निकट की परन्तु साहित्य से उतनी ही दूर कला स्थापत्य या वास्तु है। हिन्दी म वास्तु कला पर बहुत कम ग्रन्थ है। परन्तु स्थापत्य अपने आप मे एक बहुत मनोरजक अध्ययन का विषय है। मैंने 'गुम्बद का विकास' नामक एक सचित्र लेख 'सम्पूर्णानन्द-अभिनन्दन-ग्रन्थ' में दिया है। उसके साथ ही विदेशी तथा देशी वास्तु के कला-रूपो का विशेष रूप से अध्ययन करने के बाद मे इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि साहित्य को यदि केवल ड्राइग रूम तक ही सीमित नहीं रहना है, तो इन सभी गृह-निर्माण-विषयक सौन्दर्य-धन-उपयुक्ततावादी दृष्टियों का साहित्यिक के निकट बहुत अर्थ होना चाहिए। फूस की झोपडियो का, गँवई बच्चे मकानो का और एक-सी सौन्दय हीन चालो का वर्णन करना आसान है; परन्तु मध्ययुगीन ऐतिहासिक 'बाडो' के या महलो के वर्णन देना सहज नही। और तो और बौद्धकालीन उपन्यासो में विहारो, चैत्यो और सघारामो के वर्णन में भूलें इस अध्ययन के अभाव के कारण घटित हुई है।

सौन्दय-शास्त्र की दृष्टि से शिल्प और स्थापत्य में प्रयुक्त द्रव्य उनकी शैली को और प्रभाव को भी निर्णीत करता है। सगमरमर का ताज और लाल पत्थरो की सीकरी को आप अन्यथा नही सोच सकते। रामकिकर के सथाली परिवार मे ककरीट के माध्यम की नियोजना अर्थशून्य नही है। जिस प्रकार प्राचीन मूर्तियो म देवताओ की आँखें अम्लान रजत धातु की बनाते थे, उसी प्रकार आधुनिक शिल्प म भी अन्य द्रव्य का प्रयोग या 'सेटिंग' (जैसे हेनरी मूर के शिल्प में) बहुत मानी रखता है। प्राचीन यक्षिणियो, प्रसाधिकाओ या अप्सराओ के चित्रण में कुछ अतिरजन मिलता है, परन्तु आधुनिक युग के रोदाँ को भी अपने 'चलते हुए मनुष्य' के धड या चिन्तक के सप्तधातु-शिल्प में अतिरजन काम मे लाना पडा है।

शिल्प की या स्थापत्य की दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है 'मासेज' या आकाश को भरने वाले द्रव्यमान की सयोजना। आधुनिक शिल्प तो अधिकाधिक इसी पर आश्रित हो गया है। साहित्य में भी 'आकाश-पूर्ति' की समस्या होती है। विशेषत प्रतीकात्मक रूप से चरित्र चित्रण या व्यक्तित्व के प्रस्तुतीकरण म उसकी बहुत सार्थकता है। शिल्प के द्रव्य जिस प्रकार से मिट्टी, पत्थर, काठ, धातु, कांस्य आदि हैं; साहित्य के भी द्रव्य शब्दार्थ है और उनके नवनवीन अभिधेय तथा उनमें प्रयुक्त परिमाण-व्यजना

बहुत सी चमत्कृति निर्मित करती है, जो कलानन्द की एक प्रेरक वस्तु है।

पाश्चात्य और भारतीय वास्तु-शास्त्र की तुलना मे हमे कई मजेदार बातें मिलती है। हिमालय से विन्ध्याद्रि तक कश्यप सहिता विन्ध्याद्रि से तुङ्गभद्रा तक भृगु सहिता और तुङ्गभद्रा से नीचे मय सहिता प्रचलित है। त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित सोलहवीं शती के ग्रन्थ 'शिल्प-रत्न' मे कश्यप-पद्धति 'नागर', भृगु पद्धति 'द्राविड़' और मय पद्धति 'विसर' कही गई है। इन सहिताओ के अनुसार शिल्प-शास्त्र का प्रधान उद्देश्य मनुष्य का सुख है। उसमें पुख्ता नीव और पाछे की परम्परा को देखकर आगे देखने की बात प्रधान कही गई है। जब कभी कोई इमारत फिर से पक्की बनाई जाय तो उसमे कमजोर हिस्से को और पक्का बनाने की ओर ध्यान दिया जाय यह कहा गया है। शिल्पज्ञ को कृषि-शास्त्र जानना जरूरी है।

प्रत्येक वस्तु के वर्ण, लिंग, वय, अवस्था और सस्कार निश्चित है। जैसे अवस्थाओ में प्रकृति, सस्कृति, सस्कृति और विकृति ये प्रधान है। यहाँ तक कि सोने-जैसी बेजान चीज के भी सोलह सस्कार गिनाये गये है। वास्तु-शास्त्र में जो कारीगर चुने जायँ उनके बारे में भी नियम है। यथा—

आजकल के नाम	कश्यप संहिता	भृगु सहिता	मय संहिता
इजीनियर	शिल्पज्ञ	सूत्रधार	स्थपति
ओवरसियर	दैवज्ञ	गणितज्ञ	सूत्रग्राही
मिस्त्री	विधिज्ञ	पुराणज्ञ	तक्षक
कारीगर	पौर	कमज्ञ	वर्धकि
मजूर	नृकर	कारु	कर्मा

मकान बनाने के जैसे सूक्ष्म विवरण इन सहिताओ मे दिये है, वैसे ही जमीन कौन-सी हो; उसमें अडोसी-पडोसी कैसे हो, कैसे पशु-पक्षियो, वृक्षो-वनस्पतियो का सहवास उचित है, कैसी चीजो का अनुचित—इन सब बातो के बारे में विस्तार से कहा गया है। घर के आसपास पर्वत, चट्टान हो परन्तु दलदल, खड्डे न हो, फटी हुई या दाग वाली, हड्डिया पडी जमीन अच्छी नही होती यह सब 'शिल्प रत्न' में कहा गया है।[1] साथ ही किस दिशा मे घर के बाथरूम हो, रसोई हो, सोने का कमरा हो वगैरह

---

१ गोमर्त्य फलपुष्पदुग्धतरुभिश्चाढ्या समा प्राक्प्लवा
स्निग्धा, धीररवा, प्रदक्षिणजलोपेताऽऽशुनीजोद्गमा
साप्रोक्ता, बहुपासुरक्षयजता, तुल्या च शीतोष्णयो
श्रेष्ठा भूरधमासयुक्त विपरीतामिश्रिता मध्यमा ॥

—शिल्परत्न

सब बात 'नारदीय शिल्प' म दी है ।[1]

इस प्रकार प्राचीन भारतीय कला के अनुसन्धान के लिए श्री अरविन्द और आनन्दकुमार स्वामी भी चाहे आध्यात्मिकता देखना आवश्यक समझते हो[2] फिर भी, उनमें एक भौतिक उपयुक्तवादी धारा भी अवश्य स्पष्टत वर्तमान रही है । उसकी खोज का बहुत सा प्रयत्न इधर डॉ० मोतीचन्द्र, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, सतीशचन्द्र काला अ० स० आलतेकर आदि ने हिन्दी में भी किया है । फिर भी बडी आवश्यकता है कि भारतीय शिल्प तथा वस्तु के बारे म छोटे-बडे अनेक सचित्र ग्रन्थ हिन्दी म निकले और वे वैज्ञानिक ढग पर लिखे हो । यानी उनमें से विवेक इतिहास हो, निरा भावावेश नही । 'सस्कृति' के नाम पर पुनरुज्जीवन का नारा आजकल कई जीर्णोद्धारवादी लगा रहे है जो सही नही है । साहित्य में भी शिल्प-जैसी प्रमाणबद्धता, स्थापत्य जैसी सुगठित भव्यता तभी आ सकेगी जब हमारी सौन्दर्य-दृष्टि व्यापक बनेगी और हमारी अभिरुचि विकसित होगी । अन्यथा 'मूर्ति' को धार्मिक आवरण म ही सोचने की जसे हमारी आदत पड गई है । और हम उसी मानसिक गुलामी में अभी भी जकडे हुए है ।

हमारी प्राचीन सास्कृतिक धरोहर में शिल्प और स्थापत्य का—क्या गुप्त, मौर्य, गाधार और कुषाणकालीन और क्या पठान, तुगलक, मुगल और ब्रिटिश कालीन कला-कृतियो का—यथार्थ मूल्याकन हम तभी कर सकेंगे जब हम जानेंगे कि आज के युग और कला में यथार्थ सामाजिक प्रगति की दिशा में उसमें से कौनसी प्रेरणाएँ ग्राह्य है और कौनसी बात निरी विकलाँग, मुमूर्षु और अननुकरणीय है ? उन्ही सशक्त परम्पराओ को चीन्हना है ।

---

१ स्नानागार दिशि प्राच्या अग्नियामग्निमदिरम्
अवाच्या शयनागार नैऋत्या वस्त्रमदिरम्
प्रतीच्या भोजनागार वायव्य पशुमदिरम्
भाडाकोश तूत्तरस्या ऐशान्या देवमदिरम्

—नारदीय शिल्प

२ 'भारतीय भास्कर्य, मूर्ति कला का भारतीय दर्शन, धर्म, योग और सस्कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के साथ-साथ उनमे इन सबके रहस्य की व्यापक अभिव्यक्ति भी है ।'— कुमार स्वामी—'द एम एण्ड मेथड्स आफ इण्डियन आर्ट ।'

४

आधुनिक साहित्य और मनोविकृति

आधुनिक कला में असुन्दर का चित्रण बढता जा रहा है; उसी प्रकार आधुनिक साहित्य में विद्रूप और जुगुप्सित, बीभत्स और विकृत रूपो का निरूपण भी एक समस्या बन गई है। आलोचको के लिए यह एक चिन्ता का विषय है। क्या नये साहित्य में ही मनोविकृतियो का चित्रण बढता जा रहा है, या प्राचीनकाल से बीभत्स और अरम्य (ग्रोटेस्क) के प्रति मनुष्य का आकर्षण इसी प्रकार विद्यमान है? यदि यह चित्रण एक नई वस्तु है, तो वह क्यो इतनी बढ रही है और क्या इन मनोविकृतियो के चित्रण का परिणाम हितावह है? और यदि यह विकृतियाँ अनिष्ट है, तो इनके निराकरण का क्या उपाय है?

रोदाँ और एपस्टाइन का शिल्प, पिकासो और पॉलक्ली के चित्र, जौइस और सार्त्र के उपन्यास, हेन्रीमूर का अर्ध-शिल्प और ऐसे कई दुर्बोध आधुनिक कला के उदाहरण यह सिद्ध करते है कि कला में इस प्रकार की विचित्र, चोकाने वाली, असतुलित रचना एक विश्वव्यापी समस्या है। और भारतीय साहित्य-कला में तो प्रगतिशील चिताधारा की नवीन उद्‌भावना के साथ-साथ इधर सन् '३४ के बाद और उससे अधिक गत महायुद्ध के बाद इस समस्या ने बहुत तीव्र रूप धारण किया है। यह कला जान-बूझकर अब तक अछूत और अस्पृश्य माने जाने वाले विषय चुनती और छूती है। उसका कहना है कि अवचेतन का यथार्थ-चित्रण हम ऐसी ही दुस्स्वप्न सम कला की ओर ले जायगा। इन सब कला-कृतियो की एक विशेषता यह भी है कि जन-साधारण के लिए वे एकदम दुर्ज्ञेय और कठिन, पहेली-बुझौवल के समान हैं।

एक तो पुराण-पन्थियो का, सनातन आलोचको का, दल है, जो इस सारे अघटित व्यापार को सहज ही एक वाक्य से टाल देना चाहेगा कि यह सब तो कला ही नही, साहित्य ही नही। इस प्रकार कविता में एज़रा पाउड और नरूदा के समान 'व्यक्तिगत कल्पना चित्रो' के माध्यम से विचार करना अकलात्मक है, क्योकि उसमें प्रेषणीयता का नितान्त अभाव है। परन्तु जो विख्यात शिल्पी-चित्रकार-कवि-उपन्यासकार आदि नाम मैंने ऊपर गिनाये है; उनकी कला-कृतियाँ हीन कोटि की, केवल प्रयोग के लिए प्रयोग वाली अधकचरी, मानसिक अजीर्ण की द्योतक वस्तुएँ नही—अर्थात् युगान्तरकारी रचनाएँ है। अत. इस समस्या को और भी मूलतः पकड़ना होगा।

क्या मनुष्य के मन मे जैसे सुन्दर और भव्य, रम्य और कोमल-मधुर के लिए

स्वाभाविक आकर्षण है, वैसे असुन्दर और घिनौने, विरूप और घण्य के प्रति भी कोई प्रबल आकर्षण है ? मनोवैज्ञानिक इस बात का समर्थन करते हैं। प्रेम और घृणा वस्तुत उसी एक मनोव्यापार के दो पहलू मात्र हैं। प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों में विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में बीभत्स-रस की मीमासा इस प्रकार की है—

चित्तद्रवी भावमया ह्लादो माधुर्यमुच्यते ।
सभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिक क्रमात् ॥
मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णान युक्ताष्टठडढान्विता ।
रणौ लघू च तद्व्यक्तो वर्णा कारणता गता ॥
अविवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा ।
ओज-श्चित्तस्य विस्ताररूप दीप्तत्वमुच्यते ॥
वीरवीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ।
वर्गस्याद्यतृतीयाभ्या युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ॥

(अष्टम परिच्छेद श्लोक २ से ५ तक)

इसका अर्थ है—चित्त का द्रुतिस्वरूप आह्लाद जिसमें अन्त.करण द्रुत हो जाए ऐसा आनन्द विशेष, माधुय कहाता है। यह जो किसी ने कहा है कि माधुर्य द्रुति का कारण है सो ठीक नही है, क्योकि द्रवीभाव या द्रुति आस्वाद स्वरूप आह्लाद से अभिन्न होने के कारण कार्य नही है, आस्वाद या आह्लाद रस के पर्याय हैं। द्रुति रस ही स्वरूप है, उससे भिन्न नही है। और रस कार्य नही, अतएव द्रुति भी कार्य नही। जब द्रुति काय ही नही, तो उसका कारण कैसा ? द्रुति का लक्षण कहते हैं—रस की भावना के समय चित्त की चार दशायें होती है—काठिन्य, दीप्तत्व, विक्षेप और द्रुति। किसी प्रकार का आवेश न होने पर अनाविष्ट चित्त की स्वभावसिद्ध 'कठिनता' वीर आदि रसो में होती है। एव क्रोध और अनुलस्य आदि के कारण चित्त का 'दीप्तत्व' रौद्र आदि रसो में होता है। विस्मय और हास आदि उपाधियो से चित्त का 'विक्षेप' अद्भुत और हास्यादि रसो मे होता है। इन तीनो दशाओ—काठिन्य, दीप्तत्व और विक्षेप के न होने पर रति आदि के स्वरूप से अनुगत सहृदयो के हृदय का पिघलना 'द्रुति' कहलाता है। सम्भोग-शृगार, करुण, विप्रलम्भ शृगार और शान्त रसो में क्रम से माधुय बढ़ा हुआ रहता है। शान्त रस में सबसे अधिक माधुर्य होता है। ट, ठ, ड, ढ, से भिन्न वर्ण आदि में वर्गों के अन्तिम वर्णों (ञ भ ङ ण न) से युक्त होने पर माधुर्य के व्यजक होते हैं। समास-रहित अथवा अल्पवृत्ति अर्थात छोटे-छोटे समासो वाली मधुर रचना भी माधुर्य की व्यजक होती है। चित्त का विस्तार स्वरूप दीप्तत्व 'ओज' कहाता है। वीर, वीभत्स और रुद्र रसों में क्रम से इसकी अधिकता होती है। वर्णों के पहिले अक्षर के साथ मिला हुआ उसी वग का दूसरा अक्षर और तीसरे के साथ

मिला हुआ उसी का अगला चौथा अक्षर तथा ऊपर या नीचे अथवा दोनो ओर रेफा से युक्त अक्षर एव ट ठ ड ढ श और ष ये सब ओज के व्यजक होते है। इसी प्रकार लम्बे-लम्बे समाप्त और उद्धत रचना ओज का व्यजन करती है—जैसे चञ्चद्भुजे-त्यादि ! विश्वनाथ ने आगे 'प्रसाद' की व्याख्या की है।

बीभत्स रस के सम्बन्ध में विश्वनाथ की शब्द-वर्ण वाली बात को पूर्णत सही न भी मानें—क्योकि शब्दो की अभिधाओ में तब से अब तक बहुत परिवतन और विकास हुआ है—तो भी यह वाक्य महत्त्वपूर्ण है कि वीर से वीभत्स में और वीभत्स से रौद्र रस मे क्रमश दीप्तत्व का आधिक्य होता जाता है।

पहले वीर-रस को लें। मराठी के कवि-आलोचक 'अनिल' ने सस्कृत में 'प्रक्षोभरसस्थापनम्' नामक निबन्ध मे प्रतिपादित किया है कि आधुनिक काल में से राष्ट्रीय कविता अथवा मानवतावादी (विश्वबन्धुतावादी) कविता में दोनो के प्रति करुणा तो होती है, उस दैन्य के कारणो के प्रति 'हुकार' भी होती है, परन्तु पूर्व सूरियो की बताई हुई 'कार्यारभेषु सरम्भ स्थवान् उत्साह उच्चते' वाली जिगीषा उत्साह उसमें नहीं होता। यदि वीर रस का स्थायी भाव ग्रमर्थ मान लें, यानी तितीक्षा-साहित्य मान लें, तो भी यह भाव-दशा मात्र होगी, रस-दशा नही। अत 'अनिल' के मत से मानवता पर होने वाले अन्याय आक्रमण की, दलितो के प्रति छल की जो तीव्र अनुभूति होती है, इससे मन मे सवेग स्थायी भाव निर्माण होकर प्रक्षोभ रस निर्मित होता है।

यह नया रस छोड भी दे तो भी आधुनिकतम कविता या कला के रसास्वाद में कटुतिक्त जो अनुभूति होती है, उसे क्या वीभत्स रस में डालें ? ओजगुण यदि उसे मानें तो उसमें आवेश, जोर, सामर्थ्य होना चाहिए। परन्तु कडवी कविता पढ़कर मनस्त्रास होता है, आवेश नही उत्पन्न होता। ओजस् की व्याख्या उच्चारण और अर्थ-दृष्टि से कठिन, समास-प्रचुर रचना मानी गयी है। वामन, भोज और जगन्नाथ ने कठिनतामयी रचना को 'गाढ रचना' भी कहा है। भोज ने तो ओज और ऊर्जित्य में भेद किया है। ओज समास-प्रचुर रचना से निर्मित होता है तो ऊर्जित्य गाढ रचना से। मम्मट भी ओज के पीछे मन की एक प्रकार की व्याकुलता बताते है। जैसे—'घट पटु इतीतरे पटु रटन्तु वाक्पाटवात्' रचना है। जगन्नाथ ने अर्थप्रौढि को ओज कहा है और उसका लक्षण उदारता अथवा अग्रामता बताया है। वामन ने रचना की विकटता को उदारता कहा है। परन्तु इस उदारता का जोड इस नवीन, असुन्दर का जान-बूझ-कर निरूपण करने वाली अद्भुत रचना से कैसे लगाया जाय ?

इसके दो-तीन कारण बताये जाते है। कुछ लोगो का कथन है कि रचनाओ में कठिनता या दुरूहता निरी उदारता के कारण नही, अद्भुत रस की या वीभत्स रस

की उद्भावना के कारण नही होती, अपितु सत्य के नग्न, वमुरोल्लत, सीधे सच्चे चित्रण के कारण, सत्य के दबाव के कारण, the truth, bare truth, nothing but the truth की व्यजना के कारण ऐसा सन्तुलन होता है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य-विचारचर्चा म तीसरी कारिका मे लिखा ह कि—

काव्ये हृदयसंवादि सत्यप्रत्ययनिश्चयात्
तत्त्वोचिताभिधानेन यात्युपादेयता कवे ।

अर्थात्, सत्यप्रत्यय आ रहा है ऐसा निश्चय हो सके तो काव्य हृदय को जचता है। उसमें होने वाले वास्तव दर्शन से ही कवि ऐसा लेखन करें। वही इष्ट है।

इस भूमिका में मैंने सक्षेप में बताया कि आज के साहित्य और कला म कुछ ऐसा ऊबड खाबड, विचित्र-अजीब, नया और असहनीय सा उभरता चला आ रहा है जिसे हम सक्षेप में मनोविकृति कहे। उसी के रूपो और कारणो और यथासम्भव निराकरण के उपायो की चर्चा हम यहा करना चाहते है।

मै कुछ नमूने लेकर बनता हूँ। अपने ही एक कवितानुमा सॉनेट से आरम्भ करता हूँ, जिससे स्थिति की कल्पना को जा सकती है—

जीवन मे आ गई बहुत खोखली मानता,
एक अपूरणीय-सा फैला है अभाव।
टूट रही है सब रसज्ञता, सहृदयता,
छितर गया है रसोद्रेक का ही स्वभाव।
यह क्यो है, इसकी चर्चा भी हमको रुचती नही,
और हम सब भेडिया-धसान बने जाते है।
एक अजीरन सा युग मे छाया है, बाते पचती नही,
व्यर्थ सभी जो बात-बात पर तने-तने जाते है।
सब कुछ पहिले का मिटता-सा, खडित, जजर, रोग ग्रस्त है,
अस्त-व्यस्त है साज, रागनी बेठाठा है,
निकल भागता जीवन का कैदी पस्ती मे खा शिकस्त है,
मानो पहरेदारो ने कुन्दे से झपट-डपट डॉटा है।
जीवन का बोना, घिघियाता, बहरा, पगु, घिनौना, गन्दा,
और कलाकारो का उसमे बनते रहने का है धन्धा।

तो एक पक्ष उन कलाकारो का ह जो ऐसी सब बुराइयो से बचते रहते है और गालिब के समान कहते है—

किस्मत बुरी सही पै तबीयत बुरी नही,
है शुक्र, की जगा के शिकायत नही मुझे।

दूसरा पक्ष उस सारी बुराई से भागता नही मगर उसका वर्णन करने जाता है और उसी में जैसे डूब-सा जाता है, खो जाता है, एजरा पाउँड अपने नवीन कविता-सग्रह 'पिसान कँटोज़' में कहते है, जिसकी प्रशसा टी एस-इलियट ने 'वाणी की नयी प्रखरता' कहकर की है —

The ant's a centaur in his dragon world
Pull down thy vanity, it is not man
Made courage, or made order, or made grace,
Pull down thy vanity, I say pull down
Thou art a beaten dog beneath the hail
A swollen magpie in a fitful sun,
Half black half white
Nor Knowst' ou wing from tail
Pull down thy vanity
How mean thy hates
Fostered in falsity
Pull down thy vanity

मानव अहन्ता पर पाउँड की यह चोट ही नही, वरन् अधुना अग्रेजी साहित्य का सारा स्वर ही गत महायुद्ध के बाद बहुत निराशामय और कुठापूर्ण हो गया है। जीवन का अर्थ जैसे खो गया है। चारो ओर घोर दुराशा की तमिस्त्रा के सिवा कुछ नही। 'अस्तित्ववाद' इसी आत्यन्तिक गतिरोध से उपजा दर्शन है। जीनपॉल सार्त्र के 'लानासी' नामक फ्रान्सीसी उपन्यास का नायक आँत्वान रोकँतीन कहता है। 'यदि कोई मुझसे पूछता कि अस्तित्व क्या था तो मैने उत्तर दिया होता कि वह कुछ नहीं, सिर्फ एक शून्य, खाली खोखला रूप है जो कि बाह्य वस्तुओ का रूप न बदलकर ज्यो का त्यो रखा गया है।' या 'यह आदमी और इसकी बडी-बडी नाक के नथुने मोछ के साथ ऐसे भयानक जान पडते है मानो वे एक पूरे कुनबे को हवा पम्प करके दे सकते हैं। यही कुनबा उसका आधा चेहरा खा गया है' या 'पेड तैर चले। ऊपर आसमान की तरफ ? या शायद गिर पडे एकदम। किसी भी क्षण इन वृक्षो के तने गिर पडेंगे। वे सब सूख गये। ठिठुरकर गिर पडे, जैसे थके हुए जादू के डडे हो। वे सब बिखर-कर जमीन पर एक काले मुलायम, जुडे हुए ढेर के रूप में हो गये।'

यह केवल सार्त्र के उपन्यास मे ही नही, सर्वत्र नवीन साहित्य में दिखाई देने वाली क्षुण्णता है। निराला जी के 'खजोहरा' और 'रानी कानी' या 'कुकुरमुत्ता' जैसी कविताएँ तथा 'नये पत्ते' के कई प्रयोग इस अतिवास्तववादी चेतना के प्रमाण है।

अतिवास्तववाद केवल चित्रकला और शिल्प तक ही सीमित न रहकर साहित्य के क्षेत्र में भी उतर आया है। जार्डन ने अपने 'द एस्थेटिक आवजेक्ट' में कहा है कि—

Our age is rich in the profusion of the grotesque The age is replete with life, but it may be that it is the super-abundance of life with a dearth of form that is characteristic of it

कुछ इसी तरह की चीज लुई पेकनीस ने अपनी कविताओ में व्यक्त की है—

Fruits and greens are insufficient for health,
Culture is limited by lack of wealth,
The tourist sights have nothing like stonehenge,
The literature is all about revenge
They have their faults like all creators, like
The hero who must die, or like the artist who
Himself is like a person with one hand
Working it into a glove

इस प्रकार की कविता म क्षोभ और जुगुप्सा की अभिव्यजना इसी बात का प्रमाण है कि कवि की सूक्ष्म सवेदनाशील आत्मा पर कही चोट हुई है और वह तिल-मिला उठा है।

अतिवास्तववाद

अभी ऊपर मैंने जो चर्चा की उसमें सुररियालिज्म (अतिवास्तववाद) और अस्तित्ववाद (एक्जिस्टेन्शियालिज्म) की चर्चा आई है, जिनका विस्तृत विवेचन आवश्यक है। सुररियालिज्म चित्रकला और शिल्पकला की एक शैली विशेष है जिसमें अचेतन मन की सारी कुठाओ को व्यक्त किया जाता है। इसके सबसे अच्छे आलोचक और टीकाकार श्री हर्बर्ट रीड के 'मिनिंग ऑफ आर्ट' और 'आर्ट नाउ' से इस विषय पर कुछ अश सुनिए—

सुररियालिज्म समस्त रूढियो के विरूद्ध विद्रोह का स्वर उठाने वाला आन्दो-लन है। अतः उसका बहुत कडा विरोध भी होता है। शास्त्रीय आलोचक तो उसे एक तरह का पागलपन या सनकीपन कहकर टाल देते है। पर हम इसे मॅक्स अर्न्स्ट और सालवाडोर डाली के चित्रो से समझने का यत्न करें। मॅक्स अर्न्स्ट ने अचेतन मन के प्रतीको को चित्रो में व्यक्त करने का यत्न किया है। जैसे अल्जब्रा म 'क्ष' एक अज्ञेय परिणाम होता है, वसे ही सुररियालिज्म चित्रकला का 'क्ष' है परन्तु इतना ही कहना काफी नही है। प्रतीकों की सयोजना दो तरह से होती है—मूर्त और अमूर्त। सुररिया-

लिज्म दोनो को मिला देता है। स्वप्न मीमासा के मनोविज्ञान से सुररियालिज्म को बहुत स्फूर्ति मिली है। कुछ लोग तो इसी कारण से मॅक्स अर्न्स्ट के चित्रो को चित्र कहते ही नही। उनके मत से यह तो शुद्ध मनोविज्ञान है या साहित्य, परन्तु चित्रकला नही।

जब इस प्रकार के सकेतो के आयोजन में मानवोपरि तत्त्वो का भी सहारा लिया जाता है तब सालवादोर दाली की कला अवतरित होती है। मध्ययुगीन धार्मिक चित्रकार बौश ने स्वर्ग, मृत्यलोक और नरक के तीन चित्र बनाये है जिनमें से कुछ के विवरण सुनिए —ये एक गिर्जे की प्रार्थना पीठिका के मण्डन के लिए बनाये गये थे। मृत्युलोक का चित्रण इस प्रकार—एक नदी-किनारा है। नदी के पानी के नीचे एक अडा है जिसमें से एक गोल खिडकी काट ली गई है जो कि बाहर एक कांच की नली के रूप में नीचे झुकती है। उसमें से एक आदमी झाँक रहा है और उस नली में घुसने वाले चूहे की ओर घूर रहा है। अडे के दूसरे छोर पर एक विचित्र पौधा है जिसका फूल फैलकर एक विचित्र शिराओ वाला बुद्‌बुद् बन जाता है जिसमें एक नग्न प्रेमियो का जोडा बैठा है। उस फूल के पास एक प्राणी एक राक्षसकाय उल्लू से आलिगन कर रहा है। और ऊपर कछ नग्न आकृतियाँ निराश रूप में प्रचण्ड कठफोडो पर बैठी हैं।

नरक के चित्रण में एक नग्न मानवाकृति एक वीणा पर गरुड की तरह फैली है। यह वीणा एक बाँसुरी में से उगी है, जिसमें साँप लिपटा हुआ है और वह साँप अपनी गुंजलक मे एक नग्न मानव को बाधे हुए है। ऊपर चौंतरे पर एक पक्षी के सिर वाला राक्षस बैठा है जिसके ैर सुराहियो के बने हैं। वह एक मुर्दा खा रहा है जिससे पक्षी भाग गये है। उस चौतरे के नीचे एक बुद्‌बुद् है जिसमें से एक मानवाकृति एक गहरे गड्ढे पर आधी झुकी है। एक आदमी एक सूअर का चुम्बन ले रहा है, इतने में एक काल्पनिक कीडा आकर उसे कुतरता है जिसके पैर आदमी की तरह हैं और सिर से एक टूटा हुआ आदमी का पैर लटक रहा है

(हमारे यहाँ भी जैन पुराणो में ऐसी कई विचित्र घटनाएँ मिल जायँगी।) सालवादोर दाली इसी प्रकार अबुद्धि-रागत प्रतीक-योजना करता है। वह अक्सर लेडी शू में दूध का ग्लास चित्रित करता है।

'आर्ट नाउ' के पाँचवें अध्याय में हर्बर्ट रीड सुपररियालिज्म को स्वयचलनवाद (Automatism) कहकर पिकासो की कला की चर्चा करता है। पिकासो पर एम. जर्वोस पाँच खण्डो म एक ग्रन्थ लिख रहे है जिसका यह अश रीड ने उद्‌धृत किया है—पिकासो ने अपनी दृष्टि और अपनी कामना (Will) को कभी विरोध में नही रखा दृष्टि और कामना भिन्न बातें है। दूसरे में एक सतत प्रयत्न रहता है; अन्तर्ज्ञान अज्ञात में एक साहसपूर्ण उडान है। वस्तुओ का सारतत्व, जब तक आत्मा-

नुभूति का तनाव नही होता, कोई नही ग्रहण कर सकता। पिकासो ने कहा कि मैं दूसरो के लिए देखता हूँ। पिकासो के प्रेरणा के क्षण गहरी वेदना और आत्म-मथन से भरे होते हैं। उसकी सपूर्ण इच्छा आत्म-प्राप्ति है। पिकासो देखता है कि उस पर कई तरह के परत जम गये है, जिन्हे वह झाड फेंकना चाहता है। वह सब बाधाओ को तोडना चाहता है। अतिवास्तववादियो ने युग के सामूहिक अवचेतन की स्थापना को मानकर निरीक्षण के स्थान पर अन्तर्ज्ञान, विश्लेषण के स्थान पर सश्लेषण, वास्तवता के स्थान पर अपरवास्तवता को प्रश्रय दिया है।

जर्वोस के आन्तरिक स्वगत-भाषण की तुलना करके रीड आगे कहते है कि साहित्य और कला में आकृति या रूप की कल्पना का पुर्नानरीक्षण आवश्यक है। रोजर फ्राम के 'कलाकार और मनोविश्लेषण' (होगाथ १९२४) नाम के प्रबन्ध से वे उद्धरण देते हैं—'प्रतीक दो तरह के होते है; एक इद्रियसवेद्य, दूसरे अवचेतन पर आधारित ही वैज्ञानिक और कलाकार के प्रतीको का सहारा छोड देगा, क्योकि कविता जितनी ही अशुद्ध होगी, उतनी स्वप्न पर आश्रित होगी।' (In proportion as poetry becomes impure it accepts dreams)

सुररियालिज्म के पूर्व ज्यूरिच में १९१६ में जन्मा और १९२४ म मरा 'दादाइज्म' था। उसी की रक्षा में अतिवास्तववाद का जन्म हुआ। कवि आँन्द्रे ब्रेटॉन ने उसका उदघोषण पत्र प्रकाशित किया। उसके अनुसार हमारी साधारण दुनिया से एक और बडी दुनिया हमारे अवचेतन मन की है। अतिवास्तववादी यद्यपि लोत्रीमाँ (Lautreamont) को अपना गुरु मानते हैं, और हेगेल के दर्शन म कुछ अपना समाधान खोजते है, फिर भी उनकी प्रेरणा का स्रोत फ्रायड से अधिक सबद्ध है। स्वप्न-चित्रो का आधार दोनो ही लेते है। सुररियालिज्म केवल स्वप्न या अचेतन की कला नहीं। वह कोई भी बन्धन नहीं मानती। वह तो अपने भीतर सीधे उतर जाना चाहती है। कल्पना के तुरगो को स्वच्छन्द छोड देने पर, उनके अनुसार अचेतन मन के कई अविजित प्रदेशो पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। यह प्रक्रिया स्वय चालित है। जो लोग इन नये चित्रो को नही समझते उनसे पिकासो ने प्रश्न किया है— हर कोई इन चित्रो का अर्थ पूछता है ? आप पक्षियो के गाने का अर्थ क्यो नही पूछते ? रात और फूल और यह आसपास का सब कुछ समझने का प्रयत्न न करते हुए आप क्यो और कैसे चाहते है कि ये चित्र ही आपकी समझ के विषय हो ? जो लोग इन चित्रो को समझाने का यत्न करते है, वे अक्सर गलत समझाते हैं।

अस्तित्ववाद

अस्तित्ववाद पर मैं 'अभिरुचि' के अगस्त १९४८ के अक में प्रकाशित अपने मराठी लेख 'सार्त्र व मार्क्स' का अनुवाद यहाँ दे रहा हूँ—

मई १९४७ के 'देमॉक्रेती नॉवेले' में सेसील आँन्ग्राड ने एक लेख मे अस्तित्व-वाद का सच्चा स्वरूप खोलकर दिखाया है। अस्तित्ववाद, मार्क्सवाद-विरोधी, समाज-वाद विरोधी, जनतन्त्र-विरोधी, पुराने आदर्शवाद की बासी कढ़ी म उबाल लाने वाला व्यक्तिवादी दर्शन है—यह इस लेख में प्रतिपादित किया गया ह । 'माडर्न क्वार्टर्ली' के शिशिर १९४७ के अंक में कुर्त ब्लाउकॉफ ने 'आइडियालोजी एड रियालिटी' नामक छोटे लेख म, अस्तित्ववाद पर जो कुछ आध्यात्मिक कलई चढ़ी रहती है उसे भी पूरी तरह खोल दिखाया है। यह लेख म दो लेखो के आधार पर लिख रहा हूँ।

जीनपॉल सार्त्र के ८०० पृष्ठो के 'अस्तित्व और नास्तित्व' (L'etre et le Neant) ग्रन्थ में पृष्ठ ३५९ पर का यह उद्धरण पढिए, इससे उसकी शैली की दुर्बोधता का परिचय होगा—"इस आध्यात्मिक प्रश्न की सभावनीयता जरा अधिक सूक्ष्मता से देखे। सबसे पहिले यह जो कुछ दिखाई देता है वह ऐसा है, कि दूसरे के लिए अस्तित्व नाम की जो चीज जान पडती है वह वस्तुत 'स्व' के लिए जीने की तीसरी कैवल्य-स्थिति है। पहिली कैवल्य-स्थिति, यानी 'स्व के-लिए जीने की मन-स्थिति का अनस्तित्व के ढग पर घटित अस्तित्व की ओर त्रिगुणात्मक प्रक्षेपण। इस प्रक्रिया मे से पहिला प्रस्फोट दिखाई देता ह, जिससे 'स्व-के-लिए' जीना स्वत्व-प्राप्ति करना है। और स्व की घटना से सुसगत ऐसी स्वत अलग होने की क्रिया का अभाव उस स्थान पर व्यक्त होता ह[1]।'

उसके शिष्य भी उसका ग्रन्थ समझते ह या नही, भगवान् जाने!

वी० जे० जेरोम ने अपनी 'कल्चर इन दी चेंजिंग वल्ड, ए मार्क्सिस्ट एप्रोच' नामक दिसम्बर १९४७ में अमरीका में छपी पुस्तक में "एक मुमूर्षु समाज-व्यवस्था के लिए विचार-प्रणाली' इस शीर्षक के नीचे निम्न-दर्शनो की आलोचना की है—(१) अबुद्धिवादी बर्गसॉ, क्रोचे, ड्युई, इर्लेसिगर स्टाइन्बेक् (२) वैमनस्य के डिडिम-अस्तित्ववादी सार्त्र, ऑलबर्ट केमस्, (३) मृत्युपूजक दार्शनिक सरेन्, कीर्कगार्ड, फ्रांज काफ्का और मार्टिन हाइडेगार, (४) श्रद्धापथी, ईलियट्, जे रारड हड, आल्डस् हक्सले, ईशरवुड्,

---

१ "Let us examine the possibility of the metaphysical question more closely What appears first of all is that being-for-others represents the third 'ek-stasy of being-for-oneself The first 'ek-stasy' in effect, the three-dimensional projection of being-for-oneself becomes itself, the tearing away of being-for-onesel from all that it is, in so far as this tearing-away is constitutive of its being .."

कार्लशिपारो, मॅक्स्वेल ॲंड्सन्, (५) राक्षसपूजा और वैश्वानरपन एच० एफ० नीग्रोविरोधी हॉलिवुड के दिग्दर्शक और चित्रपट निर्माता, अमरीकी समाचार-पत्र सचालक । जेरोम लिखता है—

"आजकल अमरीकी पराश्रयी (बोजुआ) वर्ग एक नया परदेशी 'वाद' उधार लाया है। वह एक रहस्यवादमय भानमती के पिटारे के भाँति वाद है—अस्तित्ववाद । यह आजकल चलने वाला एक साहित्यिक दार्शनिक फशन है और शबुद्धिवाद की आकाश-वाणी है ।

"अस्तित्ववाद सर्वोपरि या चरम-परम (ट्रन्सेन्डेन्टल) मानव पर अधिष्ठित है। मनुष्य अपने सकल्प और रुचि के चुनाव मे सवथा पूर्णत स्वतन्त्र है । 'मनुष्य का अर्थ है स्वातन्त्र्य' (मन इज फ्रीडम) ऐसा जीनपॉल सार्त्र का सूत्र है। मनुष्य स्वय का जो कुछ बनाएगा उससे परे कुछ है ही नही । यह अस्तित्ववाद का प्रथम सिद्धान्त है । उनकी दृष्टि से मनुष्य में 'स्व' के प्रति चेतना निर्मित करना, सब जिम्मेवारी 'व' पर ही है ऐसा मानना काफी है।"

"मनुष्य को—यानी जनता को—स्वय के अस्तित्व के लिए जिम्मेदारी पहचानने के लिए बाध्य करना मार्क्सवादी की दृष्टि से एक सामाजिक आवश्यकता है। परन्तु यह चेतना सिर्फ हवा म जाग्रत नही होती । उसके सामाजिक परिपार्श्व में, ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में यह जाग्रत मनुष्य अनुभव करता है। स्वतन्त्रता आवश्यकता की पहचान मात्र है। मार्क्स के शब्दो में—'मनुष्य इतिहास बनाता है; परन्तु वह इतिहास अपने स्वय के सम्पूर्ण कपडे में से काटकर नही निकालता' ।

"सक्षेप में, मनुष्य स्वय निर्माण करने वाला, बनाने वाला है, उसी प्रकार वह निर्मित होने वाला भी है। यही सच्चा ऐतिहासिक मानव ह । सार्त्र का निरा अध्यात्मजीवी मनुष्य सर्वथा मुक्त, पूर्णत अमर्यादित (इनडिटर्मिनेट) है। ऐसे आदमी की छलॉग उसे स्वतन्त्रता के उच्च स्तर में नही उड़ा ले जाती, परन्तु यह दासता की अँधेरी गुहा मे डुबा देने वाली है। मनुष्य को सकल्प की स्वतन्त्रता का सब्ज बाग दिखाकर उसे प्रत्यक्ष अस्तित्व में प्रचलित समाज व्यवस्था का जूआ मनवाने पर बाध्य करना ही उसका ध्येय है, क्योंकि सब पाप जैसे अस्तित्ववादी समझते है उस प्रकार से वैयक्तिक ही हो और सामाजिक पाप न-ही हो, तो मनुष्य के दु खो की सामाजिक जिम्मेदारी, सामाजिक कारण परम्परा पूर्णत नष्ट हो जाती है ।

"अस्तित्ववाद के इस परम और सर्वोपरि व्यक्तिवाद में कार्य-कारण-परम्परा को स्थान नही है। 'विज्ञान मे कारण-विचार है न ?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सार्त्र कहता है—'बिलकुल नही । विज्ञान तो अतीन्द्रिय होते है। वे भाववाचक तत्वो के अन्तर का अध्ययन करते है। उनका प्रत्यक्ष वास्तविकता से कोई सम्बन्ध

नहीं[१] ।' इस प्रकार कार्य-कारण-परम्परा का त्यागकर के अस्तित्ववाद सब प्रकार की सुसंगति, सम्बन्ध, परस्पराश्रय, परस्पर-परिणाम को नष्ट करता है । इस प्रकार प्रकृति की मानव पर और मानव की प्रकृति पर होने वाली परस्परावलम्बी प्रक्रिया की ओर से पीठ फेरकर, सार्त्र आदमी की क्रियाओं का उसकी चेतना पर होने वाला परिणाम अमान्य करता है । इस प्रकार सामाजिक जीवन के द्वार बन्द करके अस्तित्ववाद गूढ गुंजन, रहस्यवाद, अध्यात्मप्रवणता और उसके राजनीतिक पर्याय प्रतिक्रियावाद को पास बुलाता है ।

"सार्त्र का यह एकाकी आदमी कार्य-कारणों के, समाज-परिस्थिति के, इतिहास-नियमों से ऊपर उठा हुआ यह आदमी, सिर्फ पाप की छाया में घूमता रहता है । यह असामाजिक, चिरव्यथित, आत्मविश्वास शून्य और तिरस्कार से भरा हुआ प्राणी है । सार्त्र कहता है—'मनुष्य का अर्थ ही है एकाकीपन ।' 'बाहर जाने के लिए राह नहीं' नामक नाटक में उसने एक अर्थपूर्ण वाक्य लिखा है—'और सब कुछ नरक है ।'

"सार्त्र को १९४७ में अमरीकन नाट्य-परीक्षक मण्डल ने सर्वोत्तम विदेशी नाटककार का इनाम दिया । उसने फ्रान्स के लड़ने वाले लोगों से मैत्री करके थोड़े से शिष्य भी जुटा लिये और अपने आसपास क्रान्तिकारकता का आभा-वलय भी फैला लिया है । परन्तु वस्तुतः अत्यन्त व्यक्तिवादी, टटपूँजिये अराजकवाद का आत्मसमाधान सिर्फ उसमें से मिलता है । उसका शिष्य आल्बर्ट केमस कहता है—

'आत्महत्या, यही एकमात्र गम्भीर दार्शनिक समस्या है ।'

"इस अबुद्धिवाद के उत्तम नमूने काफ्का के उपन्यास में, किर्कगार्द की धार्मिक आत्म-स्वीकृतियों और मार्टिन हाइडेगार के लेखों में व्यक्त होते हैं । काफ्का कहता है—'सिर्फ आध्यात्मिक जगत ही सच्चा है । जिसे हम भौतिक जगत् कहते हैं वह आध्यात्मिक दृष्टि से पाप है, इसीलिए सच्चे कैवल्य ज्ञान की प्रथम सूचना मृत्यु के प्रति कामना पैदा होना है ।'

किर्कगार्द के अनुसार,

'आत्म-परक बनना ही यदि जीवन-कार्य है तो व्यक्ति के लिए मृत्यु का विचार निरी सामान्य कल्पना न होकर वस्तुतः वही कर्तव्य-क्रम है ।'

"हाइडेगार कहता है—'मनुष्य प्राणी के अन्तःकरण में से सतत इस व्यथा

---

१ Absolutely not The sciences are abstract, they study the variations of equally abstract factors and not real casuality

का कथन चल रहा है इस व्यथा का अभाव ही मनुष्य के मौलिक शून्यतत्त्व का आविष्कार है'।

"इस प्रकार अस्तित्ववादी अपनी साहित्यिक सांस्कृतिक परम्परा के समृद्ध तत्वों को भी अमान्य सोवियट लिटरेचर करते हैं। वाई-फिद के मासिक के मूल रूपी लेख का एम एन राय के द्वारा किया हुआ एक अनुवाद 'माडन क्वार्टर्ली' के १९४७ के ग्रीष्म अंक में प्रकाशित हुआ है— A Philosophy of Unbelief and Indifference Jean Paul Sartre and Contemporary Bourgeois Individualism' नाम से। उसमें अस्तित्ववादियों की ओर से माने जाने वाले इस बड़े श्रेय का खंडन किया गया है कि अस्तित्ववादियों ने आध्यात्मिक उपन्यास साहित्य में रूढ किया। सार्त्र की साहित्यिक कृतियाँ देखिये। सार्त्र की पहली किताब 'दीवार' (एक कहानी-संग्रह) दूसरे महायुद्ध से पहिले प्रकाशित हुई। उसके बाद 'नॉशीया' या 'मितली' नामक उपन्यास में उसने जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। उसके अनुसार जीवन अर्थ-शून्य, फीका, उबा देने वाला, सिर्फ उगले जाने वाला घृणास्पद कुछ तो भी है, अतः मनुष्य स्वयं तथा आत्म-कर्मों के प्रति उत्तरदायी है। पश्चिमी साहित्य में यह नयी बात नहीं है। आंद्रे मालरो, आंद्रे जीद, स्ट्रिंडबर्ग के पात्रों के और जेम्स जॉइस्, डास पासॉस्, ज्यूल्स रोमन्स इत्यादि के नमूने की प्रतिकृतियाँ सार्त्र में सर्वत्र मिलती हैं। सार्त्र के गुरु हैं हाइडेगार और किर्कगार्द। १९१६ में प्रकाशित रोनाल्ड लैथैम नाम के अंग्रेज लेखक की 'इन सर्च ऑफ सिविलिजेशन' नाम की किताब में अस्तित्ववाद बीज मिलते हैं।

"इन सबके अनुसार मानव अपूर्ण है। सिर्फ कुछ अस्तित्ववाद और व्यक्तिवाद के नेता अपवाद हैं। सारी मानव जाति आज असन्तुष्ट, अपनी ही स्वयं की परस्पर विरोधी वासनाओं और कामनाओं के भँवर में पड़ी हुई, विसंगत और व्यक्तित्व-शून्य बनी है। इसलिए मनुष्य कृति की एक बड़ी भारी भूल है। दोष पूँजीवादी समाज व्यवस्था का नहीं, इस अप्राकृतिक स्वभाव का है। इसलिए कटु सत्य मानवी अपूर्णता का है। यही कटु सत्य लैथम जैसे अंग्रेजी इतिहासकार, ब्रेटॉन जैसे आत्स्कीवादी सररिअलिस्ट और नीत्सेपंथी लोग मानते आ रहे हैं। मनुष्य के भविष्य के विषय में जो निराश हैं, वे ही प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति से भागना चाहते हैं, और वही सार्त्र के जाल में अटकते हैं। उनके मत से मनुष्य ऐसा ही अपूर्ण रहेगा और उसे निरा अस्तित्व प्राप्त होगा।

"ऊपर-ऊपर देखने वालों को सार्त्र का सूत्र, 'मनुष्य जो कुछ अपने आपको बनाये, वही है' (Man is only what he makes of himself) बड़ा मीठा जान पड़ता है। परन्तु वस्तुतः सार्त्र आज के जीवन की विषमता, अन्याय और

दुःख के कारणों को एक बना देता है, साफ दृष्टि को धुँधला बनाना चाहता है उसके अनुसार नियति अपरिवर्तनीय है। सार्त्र के Reprieve नामक उपन्यास में मनुष्य को डराने वाली यह नियति युद्ध के भय के रूप में अवतरित हुई है।

"सार्त्र को सामाजिक घटना से, व्यक्ति की बेकारी या रोजगार से कोई मतलब नहीं। वह केवल, 'शापित मानव' के अस्तित्व की मर्यादाओं का विचार करता है। उसके शब्दों में, यही अन्त में जान पड़ा कि मनुष्य सर्वथा एकाकी हुआ कि उसे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य मिल जाता है। दस्ताएवस्की ने कहा—परमात्मा न होता तो सब कुछ चल जाता। सार्त्र जैसे अस्तित्ववादी इसी छोर से शुरू करते हैं—'परमात्मा नहीं है। अब सब कुछ चल सकता है!' परन्तु इस 'सब कुछ' की भी कुछ मर्यादाएं हैं या नहीं? अकेला बेकार आदमी कितना भी सिर पचाए तो भी मिल मालिक नहीं बन सकता, और रेलगाड़ी के आगे सो जाने से भी बेकारी की समस्या हल नहीं होती।

"अस्तित्ववादियों का प्रगति पर विश्वास नहीं। उनके मत से सब कुछ ज्यों-का-त्यों रहता है। अच्छे-बुरे का निर्णायक व्यक्ति-मन है और उसे चुनने वाला क्षण है। इस प्रकार अस्तित्ववाद क्षणिकवाद और सन्देहवाद का विचित्र मिश्रण है। यदि व्यक्ति की उस क्षण की चुनी हुई बात निष्पाप ही होती है तो फिर परिताप क्यों होता है? दुःख का मूल क्या? सार्त्र के मत से 'मानवी अपूर्णता' उसका कारण है। वह निष्काम कर्मयोग के समान 'to act without hope of future' की चर्चा करता है और अनासक्त या 'स्टोइक' बनकर मार्क्स की ओर हिकारत से देखकर कहता है—'उँह, यह तो स्वयम् की शक्ति बढ़ाने का व्यर्थ का झमेला है।'

"लेनिन ने १९३६ में दि प्रालितेरियन रिवोल्यूशन में कहा था—'अराजकवाद पराश्रयी व्यक्तिवाद का ही दूसरा रूप है। व्यक्तिवाद ही अराजकवादी दृष्टिकोण का मूलाधार है अराजकवाद निराशा का परिणाम है'।[1]

"सार्त्र की उपन्यासत्रयी के प्रथम खण्ड 'The Age of Reason' का मुख्य पात्र दर्शन का मैथ्यू दलार्न है, जिसका प्रिय व्यवसाय है बालू के प्राध्यापक किले तैयार करना और उन्हें फिर मिटा देना। इस किले की स्तुति वह 'वाह बहुत अच्छे! हवा से आवृत्त, निराधार और फिर गिरेगा भी नहीं!' कहकर करता है और फिर वह अपने ही हाथों तोड़ भी देता है। इस रचना से वह शेर याद आता है—

'बना-बना के जो दुनिया मिटायी जाती है।
जरूर कोई कमी है जो पायी जाती है॥'

---

१ "Anarchism is bourgeois individualism turned inside out Individualism is the basis of the whole outlook of anarchism... Anarchism is the child of despair."

"यही मेथ्यू आगे चलकर स्पेन के युद्ध को 'आशा-शून्य सघर्ष' कहकर युद्ध के प्रति अपना प्रेम व्यक्त करता है। अस्तित्ववाद के ट्राय के लकडी के घोडे के पेट में बहुत सा प्रतिक्रियावाद छिपा हुआ सात्र के 'Morts Sans Sepulture' नामक नाटक पर पेरिस में रोक लगा दी गई। लदन के लिरिक थिएटर म उसी नाटक का 'Men without Shadows' नामक अनुवाद जुलाई १९४७ मे दिखलाया गया। इस नाटक के पात्र शान्ति से अन्याय सहन करते हैं; मौन से प्रतिकार करते हैं—और वह भी फ्रास की स्वतन्त्रता के लिए नही—व्यक्ति की स्वाधीनता के लिए।

"ए-कार्नु ने 'मार्क्सवाद और साहित्यिक सडाँध' नामक प्रबन्ध में 'अस्तित्ववाद की जडो' पर चर्चा की है और रेनर मारिया रिलके की भावुक, दुर्बल, रुग्ण, प्रेम-निराश, दु खान्त कविताओ को इस नये दर्शन का आदिसूत्र कहा है। 'The Notebook of Malte Laurids Brigge' ग्रन्थ में आत्महत्या की कामना करने वाला नायक पेरिस शहर मे जाता है—वहाँ एकाकी, दु ख से पीडित रहते समय वह अपना चेहरा साफ रखने में, नख वगैरह काटकर व्यवस्थित रखने में सतोष प्राप्त करता है। रिलके के युवक नायक का, यह अपमानवी आत्मिक विद्रोह स्वप्न-सृष्टि में खो जाता है और मृत्यु पूजा ही उसका अन्तिम धर्म बन जाता है। कार्नु के मत से टामस मान के बुडेनब्रूक्स विश्लेषण में भी सामाजिक कारणमीमासा छोडकर उसी कुण्ठा का वह स्वयम् शिकार बना जान पडता है।"

अपने मूल मराठी लेख का केवल एक अश मैने सुनाया। इससे अस्तित्ववाद के एक पक्ष का काफी दिग्दर्शन होगा ऐसी आशा है।

× × ×

क्या कवियो में ही कुछ दोष है जो उनकी रचनाएँ गद्यप्राय हो गई हैं? क्षेमेंद्र का यह उद्धरण आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'आजकल के छायावादी कवि और कविता' में बहुत वर्षों पूर्व उद्धृत किया था—

यस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव कष्टेन वा व्याकरणेन नष्ट
तर्केण दग्धोऽनलधूमिना वाप्यविद्धकर्णः सुकविप्रबन्धैः।
न तस्य वक्तृत्वसमुद्भव स्याच्छिक्षा विशेषैरपि सुप्रयुक्तैः
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि सदर्शित पश्यति नार्कमन्ध ॥

अर्थात्—जिसका हृदय स्वभाव से ही पत्थर के समान है, जो जन्म रोगी है, व्याकरण 'घोकते-घोकते' जिसकी बुद्धि जड हो गई है, घट-पट और अग्नि धूम से सम्बन्ध रखने वाली फक्किका रटते-रटते जिसकी मानसिक सरसता दग्ध-सी हो गई है, महाकवियो की सुन्दर कविताओ का श्रवण भी जिसके कानो को अच्छा नहीं लगता, उसे आप चाहे जितनी शिक्षा दें और चाहे जितना अभ्यास कराएँ, वह

कभी कवि नही हो सकता। जैसे सिखाने से भी गधा गा नही सकता या अन्धा सूर्यबिंब नही देख सकता।

एक दल उन लोगो का है जो सारा दोष वर्तमान युग पर ही मढते है। मराठी उपन्यास 'डाक बगला' म एक तरुणी अपने चार स्खलनो की कहानी सुनाती है। उपन्यास की भूमिका में लिखा गया है कि जिन्हे पुस्तक में अश्लीलता जान पडे, उन्हे मै बता दूँ कि आज का युग ही अश्लील है। प्रगतिवादी आलोचक कुछ इसी प्रकार का तर्क प्रयुक्त कर कहते है कि आज का यग ही ह्रास और सडाँध का (Decadence) का युग है। अत जो कुछ इसमें लिखा या कहा जायगा उस मर्ज से जरूर अछूता नही रह सकता।

तात्पर्य, आज की साहित्य-कला में—दुरूहता, दुर्बोधता, ग्राम्य तथा अशिष्ट विषयों की चर्चा, मनोविकृतिपूर्ण चरित्रो का चित्रण, यौन तथा अन्य मनोविकारो से ग्रस्त मानवो के सज्ञा-प्रवाह का यथातथ्य वर्णन, कुण्ठा और त्रास, मनोदौर्बल्य और हताशता, एतावृश्यत्व से समझौता अथवा आत्म हन्तामयी खीझ, बौखलाहट और एक डण्डे से सबको पीटने की पाशवी वृत्ति; अवर्ण्य की अवतारणा और जुगुप्सित का जान-बूझकर वर्णन बराबर बढता जा रहा है।

इसके कुछ कारण जो आलोचको ने सुझाये हैं वे इस प्रकार है—

१ साहित्य कला के वण्य-विषय में ही दोष बढते जा रहे हैं।

२ ज्ञान का क्षेत्र व्यापक होता जा रहा है, अत चेतना अधिक बहुमुखी और चक्राचार होती जा रही है।

३ साहित्यकार का व्यक्तित्व कुचला हुआ और आत्मपीडक है।

४ साहित्यकार एकान्त व्यक्तिवाद का पोषण करता है अत उसकी चिंता-धारा ही कल्पनाश्रित 'रूपवाद' में खो गई है।

५. साहित्य की अभिव्यजना के नये-नये माध्यम और साधन बढते जा रहे हैं। अत. साहित्यकार की प्रयोगशील अवस्था की यह तुतलाहट है।

६ जीवन के विराट् सघर्ष में साहित्यकार दिशि-हारा, पथ हारा हो गया है। इसलिए राह न सूझने से वह अँधेरे में टटोल रहा है।

७ या, आज का पाठक और श्रोता ही विकृति का प्रशसक और इच्छुक बन गया है। अ फिल्मो के समान साहित्य और कला में भी एक प्रकार सस्तापन, भद्दापन या हलकापन आ गया है।[1]

---

१ अस्तित्ववाद के दो प्रमुख सिद्धान्त हैं—भाव सामान्य निरपेक्ष है (Existence precceds emence) एवम् जीवन चिन्ता, एकाकीपन तथा निराशा है (Anguish, despair and abandonment)। मनुष्य स्वय के कार्यों के प्रति उत्तरदायी होने से आत्मनिर्माण करता है, जिसमे उसे उपस्थित घृणा, मुक्ति एवम् नैराश्य मे अपना मार्ग-निर्माण करना पडता है। —सम्पादक

मैंने कुछ कारण ऊपर सुझाये हैं। और भी कारण हो सकते हैं। मैं विस्तार में जाना नहीं चाहता। परन्तु एक तो हम आज के साहित्य में अस्वास्थ्य को मानकर चलना चाहिए और उससे लड़ने का यत्न करना चाहिए, अथवा फिर उसे एक अनिवार्य युग रोग मानकर स्वीकार करके चुप रहना चाहिए जो कि इष्ट नहीं। साहित्य में स्वास्थ्य कैसे लाया जा सकेगा, यह दूसरा विषय है, अतः दोषों के निराकरण की चर्चा अन्य प्रबन्ध में करूँगा।

५

मार्क्सवाद और सौन्दर्यशास्त्र

साहित्य और कला के क्षेत्र म प्रगतिशील आलोचना-पद्धति के प्रवेश के साथ-साथ यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होकर सामने आ गया ह कि क्या मार्क्सवाद का सौन्दर्यशास्त्र से कोई सम्बन्ध ह ' और यदि है तो वह किस प्रकार है ? इस समस्या पर स्पष्ट और सर्वाङ्गीण विचार न होने के कारण बहुत सी गलतफहमिया आलोचना के क्षेत्र में फैल रही ह । उदाहरणाय, वे छिछले आलोचक जो मार्क्स की दर्शन पद्धति को पूरी तरह नही समझ पाते या ग्रहण नही कर सकते, वे उसे भौतिकवादी (यानी चार्वाक की तरह सुखवादी) कहकर टाल देना चाहते ह, और कहते ह कि मार्क्सवाद के मानी तो 'रति और रोटी' की छूट और मनुष्य का पुन पशु बन जाना या आदिम मानव की भाँति स्वच्छन्द बन जाना है । दूसरी ओर जो अधकचरे मार्क्सवादी है, वे मार्क्सवाद के एकागी पक्ष को ही लेकर हर जगह, साहित्य और कला के इतिहास में भी, केवलमात्र आर्थिक मानदडा का स्थूल रूप से प्रयोग करके उस तर्क-पद्धति को एकदम शब्द प्रामाण्य की, सनातनीत्व की कोटि मे ले जाते ह । इस प्रकार मार्क्सवाद जो कि द्वद्वात्मक भौतिकवाद का दूसरा नाम है, उसे सौन्दर्यशास्त्र पर घटित करने में बडी भूलें होन की सभावना है । अत प्रस्तुत निबन्ध म मै प्रयत्न करना चाहता हूँ कि मार्क्स की जो विशेष तर्क-पद्धति थी, जो कि हेगल के आदर्शवाद के विरोध में उसने प्रस्तावित की थी, उसका प्रयोग साहित्य-समीक्षा और कला समीक्षा मे किस प्रकार हो सकता है, उसकी सीमाएँ ह और उसकी इष्टा-निष्टता किन कारणो पर अवलबित है ।

मार्क्सवाद अथवा द्वद्वात्मक भौतिकवाद की निम्न विशेषताएँ हैं—पहिली बात तो यह है कि मार्क्सवाद एक बुद्धिग्राह्य, वैज्ञानिक दर्शन-पद्धति है । वहा मनुष्य की सभी समस्याओ के विश्लेषण का प्रयत्न उसमे विवेकयुक्त किया जाता है । वहाँ किसी अदृश्य, अज्ञेय, अपरोक्ष सत्ता या रहस्यात्मक शक्ति पर अवलबित नही रहा जाता । जो है, प्रत्यक्ष, प्रयोग्य और तर्क की सीमा म है । 'तर्काप्रतिष्ठानात्' कहकर वहाँ समस्या को टाला नही जाता । दूसरी बात यह है कि मार्क्सवाद एकागी दर्शन नही है, वह आज उसके राजनतिक रूप म कुछ कठमुल्लापन भले हो दिखलाता हो, दार्शनिक या सैद्धान्तिक पक्ष मे वह शब्द-प्रामाण्य का घोर विरोधी है, वह मानवी अनुभव की समग्रता, विशालता और सर्वव्यापकता को अपनी सम्पूर्णता के साथ ग्रहण करना

चाहता है। समाज और उसके विकास की सभी अवस्थाओं का वह विश्लेषण करता है। अत वह किसी भी मत या वाद को अछूत नहीं मानता। वहाँ ऐसा भेद-भाव नहीं है कि केवल आस्तिक दर्शन ही पढ़े जायँ, नास्तिक दर्शनों को उन्हें सौतेले बच्चों की भाँति दूर रखा जाय। मार्क्सवाद की तीसरी विशेषता यह है कि वह परिवर्तनशील, विकासगामी दर्शन है। वह 'कूटस्थमचलमध्रुवम्' कहकर किसी ब्रह्म का पिंड पकड़कर नहीं बैठ जाता। वह उन अंधों की तरह नहीं कि जो हाथी के अंग विशेष को पकड़कर उसी को समूचा हाथी मान लें। वह गत्यात्मक दर्शन है। अत. वह स्थितिस्थापकवादी नहीं। साथ ही उन्नीसवी सदी के सुधारवादी व्यक्तिवादी लिबरलों की भाँति इस परिवर्तन को निरा प्राकृतिक चक्रनेमि क्रम मानकर चुप नहीं रह जाता। यह परिवर्तन मानवनिर्मित है, इसका उसे पूरा भरोसा है। इसी कारण मार्क्सवाद एक सक्रिय दर्शन है, वह उन मृत दर्शनों में से नहीं जिनमे सिर्फ पुराण-वस्तु-संशोधन ही हो सकता है; कोई नई प्राणवान चेतना शेष नहीं है। और जब यह कहा जाता है कि मार्क्सवाद क्रियाशील कर्मण्य दर्शन है तो उसका अर्थ यह कदापि नहीं कि यह क्रिया अंध अवेग पर आश्रित, फाशीवादियों की 'क्रिया के लिए क्रिया' (संगठन के लिए संगठन) जैसी है, परन्तु एक वैज्ञानिक की-सी सुनियोजित विचार पर आश्रित, समय परिस्थिति के अनुसार संघटित क्रिया है। इसी कारण मार्क्सवादी दर्शन मृत्यु पूजक और शून्यवादी दर्शन नहीं। वह आशावादी दर्शन है। आशा प्रयोग और अनुभव पर आश्रित रहती है। मार्क्सवाद संसार के इतिहास का विश्लेषण करके कुछ अनुभव एकत्रित करता है; सामाजिक शक्तियों के महत्व को बतलाता है। अत वह भविष्य के लिए, इतिहास के प्रकाश में, एक नवीन आशा का संचार करता है।

मार्क्सवाद अथवा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें के तत्व और उसकी तर्क-पद्धति को अलग-अलग करके समझा जाय। मार्क्स ने सत्रहवी और अठारहवी शती के यूरोपीय दार्शनिकों का उदार, नवीन ज्ञान को ग्रहण करने वाला दृष्टिकोण अपनाया और उसमे उन्नीसवी सदी की वैज्ञानिकता मिलाई। इसी कारण बाह्य जगत की वस्तुनिष्ठ आलोचना करके संयत और संतुलित ढंग से क्रियात्मक ज्ञान को मार्क्स ने अपने विचार का आधार बनाया। इस विश्व में विभिन्न तत्वों में कैसा परस्पर सम्बन्ध है यह मार्क्स ने देखा—वस्तु-निष्ठ और आत्म-निष्ठ दृष्टिकोण में, जीवित और जड़ पदार्थों में, मानवी स्वभाव और समाज-व्यवस्था में, चेतन मन और अचेतन सृष्टि में। जो द्वैत मानकर पुराने दार्शनिक संतुष्ट हो गये थे, मार्क्स ने उस द्वैत के कवच को थोड़ा और बताया कि इस प्रकार द्वैत की कल्पना करना, आत्म को अनात्म से अलग मानना समस्या से पलायन करना है। हेगेल की भाँति केवल आदर्शवाद की झीनी झिल्ली चढ़ाकर भी समस्या नहीं सुलझती। देखना

होगा कि इन परस्पर विरोधी माने जाने वाले तत्त्वो मे कैसा अविरोध है, कैसा परस्परावलबन है। खाद अनाज नहीं है, परन्तु खाद के बिना भी अनाज नही है। कोरा बीज कुछ नही कर सकता—अगर मिट्टी, पानी, क्षार, खाद आदि सब कारण-खण्डो का समवाय न हो और बीज से बनने वाला अनाज का अकुर जैसे बीजत्व खोता है, वैसे जिस मिट्टी की पत के साथ उसे लडना पडा है उसी मे से बहुत सा आत्मसात कर उसके मिट्टीपन को भी खोने के लिए बाध्य करता है। यो दो के विरोध से तीसरा ही एक विकास उत्पन्न होता है। आज अग्रेज भारत में डेढ सौ वष तक अपने पेर जमा गये। आप कहे कि वे अपने साथ जो रेल, तार और कई आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता की यात्रिक बातें लाये हे वे चुटकी से मिटा दी जायँ, और फिर हम 'रामराज्य' की ओर या अशोक साम्राज्य या शिवाजी की 'हिन्दूपद पादशाही' की ओर लौट चल तो वह असम्भव है। साहित्य और कला के क्षेत्र में भी चाहे जितनी 'तपस्या' और 'साधना' करो, फिर दूसरा वाल्मीकि, कालिदास या तुलसीदास सम्भव नही। उनके गुणो की दुहाई देना भी सार्थक नही क्योंकि युग बदला, उसके साथ समस्याए भी बदली, और शायद आज उन कविश्रेष्ठो में से कोई जीवित होकर आता तो सम्भवत वह स्वयम् अपने पुराने रूप पर हँसता या सहानुभूतिपूर्वक कहता—'ओह, तब मानव-जाति कैसी शैशवावस्था में थी। समस्याएँ कितनी सरल थीं। आज वाल्मीकि या होमर को, कालिदास या शेक्सपीयर को कथा बाँचकर जनाश्रय या राजाश्रय सहज नही मिलता, उसे अपनी काव्यपुस्तक की कितनी आवृत्तियाँ बिकें और उसका प्रकाशक उसे 'कोर्स' करा सका है या नही, उसे अमुक-अमुक पुरस्कार प्राप्त है या नही आदि बातो का भी विचार करना ही पडता है। नही तो वह भी किसी 'विसराम' या ईसुरी की तरह कहीं अदर्शित रूप से अपनी प्रतिभा की कांति में दीप्त, विकसित होता, मुरझा जाता।

मार्क्सवाद के तत्त्वो की भाँति उसकी पद्धति भी भिन्न प्रकार की है। उसमें सृष्टि कर्तृत्व किसी शेषशायी को सौपकर चैन की नीद नहीं ली जाती। उसमें भौतिक विकास सृष्टि पर जीवजात के आरम्भ का—प्राणीशास्त्र, भूतशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र नृ-विकास-शास्त्र के आधार पर सूक्ष्म अध्ययन कर कुछ निर्णयो पर पहुँचा जाता है। उसमें पृथ्वी पर पाप का भार बढ़ते ही श्री विष्णु या श्री शिव (जो भी ड्यूटी पर हो) एकदम अवतार नही ले लेते; ऐसे चमत्कारो में किसी भी वैज्ञानिक पद्धति का विश्वास नही हुआ करता। उसमे प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है। भौतिक कार्य का भौतिक कारण ही हो सकता है। प्रत्येक कदम से पहिले कुछ घटित हो चुका है। प्रत्येक क्रिया कई क्रिया-प्रतिक्रियाओ का प्रतिफल होती है—और इस प्रकार एक तर्कसगत सरणि से विचार भी बढ़ा करते हैं। वहाँ फाशीवादी चिन्ता के ढग पर

सोचने का काम किसी वर्ग, जाति या मुट्ठी भर विशेषज्ञों या उनके अभाव में परमात्मा के चुने हुए, प्रेषितों, तानाशाहों के लिए 'रिजर्व' नहीं किया जाता। वहाँ सब मन सोचते हैं, सोच सकते हैं, इस बात को मानकर चला जाता है।

सौन्दयशास्त्र मनोविज्ञान और समाजविज्ञान से सम्बन्धित एक प्रयोगावस्था में से जाने वाला विज्ञापन है और शुद्ध दर्शनों मे उसे स्थान नहीं दिया जाता। और वैसे तो मार्क्सीय विवेचना-पद्धति पर भी अनेक आक्षेप मिल जायगे। मै मार्क्सीय तर्क-पद्धति को मानता हू इसका अर्थ मै शब्द प्रामाण्यवादी नहीं हूं, तथा द्वन्द्वात्मक भौतिक-वाद में विश्वास करता हूँ, यह स्पष्ट है।

मार्क्सीय तर्क-पद्धति की निम्न चार विशेषताएँ है—(१) 'वस्तु' और 'स्व' का द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध, (२) राशि का गुणात्मक परिवर्तन, (३) नकार का नकार और (४) इतिहास का भौतिक, वैज्ञानिक विकास विश्लेषण।

सौन्दय मूल्य की अपेक्षा से प्रथम विशेषता का अर्थ यह है कि सिनार बेनेदेत्तो क्रोचे मानते हैं वैसे कला केवल आतरानुभव या शुद्ध 'प्रमा' (इन्ट्यूशन) नहीं हो सकती। विज्ञानवादियो, आदर्शवादियो की या (Existentialists) की गलती 'विवर्त' (सोलिप्सिम) में इस प्रकार हम पहुँचेगे। शेक्सपीयर की कल्पना अथवा कालिदास की अनुभूति का सौंदर्य कोई देवायत्त, अतीन्द्रिय घटना नहीं। शेक्सपीयर की या कालिदास की देश काल-परिस्थिति विशेष का प्रभाव अवश्य उनके मन पर पड़ा होगा, अन्यथा कलाकार के मन की विशेष-सुकुमारता, अतिसंवेदनशीलता का क्या अर्थ ? यह हम मान्य कर सकते है कि श्रेष्ठ साहित्यकार अपने युग का निरा फोटो-ग्राफर या ध्वनिक्षेपक यंत्र नहीं होता, उसे आगे ठेलता है, इसी में उसकी श्रेष्ठता निहित है। परन्तु यह कहना कि उनकी सौन्दय निर्मिति दिक्कालातीत थी या होती ही है, इस बात का कोई प्रमाण नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि अब दुबारा कालिदास, तुलसीदास या प्रेमचन्द की अवतारणा असम्भव है। उन उन लेखकों या कलाकारों की मानवीयता, उदारता, विद्रोही-वृत्ति आदि गुणों द्वारा उनकी सौन्दय दृष्टि परिमित निर्णीत अवश्य हुई होगी परन्तु इस कारण से, अन्य व्याप्तियों से, अरापृक्त, केवल आदर्श, सर्व-सामान्य भाववाचक शब्द लेकर उन्हे विश्व के आविष्कार से आज-कल अपरिवर्तनीय, सनातन, शाकरब्रह्म जैसी कूटस्थमचलमध्रुवम् वृत्तियाँ मानना इतिहास तथा मानव विकास विज्ञान के विषय में अपना अज्ञान व्यक्त करना है।

राशि का गुणात्मक परिवर्तन सौन्दर्यशास्त्र में भी अवश्य कार्यक्षम है। आदिम मानव की स्थूल, मांसलुब्ध, एन्द्रेयिक सौन्दर्यवृत्ति सभ्यता के विकास के साथ-साथ सूक्ष्मतर, अधिक मानसिक तथा बौद्धिक होती जा रही है और इसी कारण एक भील, गोंड या संथाल अब्दुलकरीम खाँ के आलाप या पिकासो के चित्र नहीं समझ सकता। परन्तु

भील, गोंड या संथाल के गाने या नृत्य, हममें से कुछ 'प्यूरिटनों' को छोड़कर, सुसंस्कृत मानव को भी आनन्द देते हैं—यह इस बात की साक्षी है कि हम मे अभी भी पशु-वृत्तियाँ विद्यमान हैं; और अभी हम शा के 'राम राज्य' के सेक्स हीन मानव नहीं बन गये है। सौन्दर्यानंद के इस प्रकार शारीरिक वृत्तियो से निबद्ध होने के कारण कई विशुद्ध दार्शनिक इसे दर्शन का अंग नही मानते। दर्शन शास्त्र ने (जैसे सांख्य या सूफी) इस प्रकार के सुन्दर संकेतो प्रतीको का आश्रय अवश्य लिया है। परन्तु सौन्दर्य के क्षेत्र में सामाजिक यथार्थवाद की चर्चा उन्हे अस्वाभाविक और अप्रिय जान पड़ती है। एक व्यक्ति की सौन्दर्य-कल्पना और एक भीड़ की सौन्दर्य-कल्पना में स्पष्ट भेद है—यह कोई भी मनोवैज्ञानिक मानेगा। भीड़ म व्यक्ति अपनी वैयक्तिकता भूल जाता है, उसमें 'साधारणीकरण' अधिक मात्रा म जागृत होता है, वह अधिक बालश तथा अधिक पशुतुल्य बनता है, ऐसे भी मत मकडूगल आदि देते है। ऐसी स्थिति म सौन्दर्य सृष्टि और दृष्टि भी समूह मे गुणात्मक रूप से परिवर्तित होती ही है यह मानना होगा।

'नकार का नकार' यह सिद्धान्त सौन्दर्य तथा उसके विपरीत असुन्दर के मान-निर्णय मे हमे ध्यान में लेना होगा। ड्यूप्ति की पुस्तक 'कला और अनुभव' में इसकी विस्तृत चर्चा है। वस्तुत 'असुन्दर' हमारे संस्कार से अधिक क्या है? काव्य में जिन दोषो की चर्चा हमारे रीति-शास्त्री करते थे, वे प्राय सभी कम अधिक मात्रा म प्राचीन श्रेष्ठ काव्यो मे भी और अधिकांश आधुनिक कविता में मिल जायँगे, परन्तु इससे क्या उनकी महत्ता कम कही जायगी? परन्तु कही न-कही हमें सुन्दर-असुन्दर, सुरुचि-कुरुचि के बीच सीमारेखा तो खीचनी ही होगी। आस्कर वाइल्ड, पेटर पथी आलोचक और शिलर कांट आदि शुद्ध प्रज्ञावादी कलाकार को, सौन्दर्यपूजक को अनीतिमान मान ही नही सकते। उनके लेखे 'सुन्दर' और 'सम' के क्षेत्र जसे एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। कला नीति-अनीति से परे है। कला का अपना स्वतन्त्र तक है। परन्तु वह 'स्वातन्त्र्य' अपने आप में कोई अर्थ नही रखता, न यह नीति-अनीति से परे वाला नारा ही—'आदमी अपने कधे पर नही चढ सकता।' सुन्दर भी अपनी सीमाओ से परे नही जा सकता—जहाँ वह सीमा का अतिक्रमण करने का अप्राकृतिक प्रयत्न करेगा वही असुन्दरता आ जायगी। परन्तु जैसे कीचड कमल की अवश्यम्भावी शर्त है या खाद पौधे के लिए अनिवार्य ह, सौन्दर्य भावना या सौन्दर्य-विचार के पीछे भी अन्य सामाजिक असुन्दरताओ की विवेचना आ ही जाती है—वयक्तिक नही, सामाजिक।

इतिहास के भौतिक वैज्ञानिक विवेचन का साहित्य-कला अथवा अन्य सौन्दर्य-प्रक्रियाओ पर आरोप हमारे कई आलोचक मित्रो को कुपित कर देता है। वे आरोप करते है कि क्या शेक्सपीयर की रचना मे कोई आर्थिक आशय खोजेंगे या कालिदास की शकुंतला में सामंतवादी वृत्ति ही? वे पूछते है कि आज तो मजदूर या अछूत के

दु:ख दर्द सुन्दर कला के आलम्बन हो सकते हैं, परन्तु कल जब समानता और जाति विरहित समाज व्यवस्था बन जायगी, तब इस कला का क्या मूल्य होगा ? तब उसे किस मापदंड से नापोगे ? और पक्के गाने, कवायद रंगो के खेल या परियो की कहानियो आदि के सौन्दर्य की विवेचना इस आर्थिक-भौतिक विवेचना से कैसे की जायगी ? एन्गेल्स और पाल अर्न्स्ट के बीच में "साहित्यालोचना मे 'यान्त्रिकता और ग्राम्यता' पूर्ण मार्क्सवाद" के विषय में जो विस्तृत पत्र व्यवहार हुआ है, उसकी ओर मैं ध्यान दिलाना चाहता हूँ। उत्पादन के साधनो पर जिस वर्ग का स्वामित्व होगा उसके अनुसार साहित्य-कला आदि सौन्दर्य निर्माणात्मक क्रियाओ में भी अवश्य परिवर्तन होता आया है। इतिहास साक्षी है कि किस युग में शासक समाज ने उत्कृष्ट कला को खरीदने का निज सुख का साधन बनाने का प्रयत्न नही किया ? किस युग मे सच्चे कलाकार ने इस शोषण और निर्बन्धन के विरुद्ध अपना स्वर ऊँचा नही उठाया ? और 'सतन को कहा सीकरी सो काम ?' का आदर आप उतना ही करते है कि जितना अर्नस्ट टौलर का सात नाटको की भूमिका म लिखना—परन्तु एक तानाशाह की वाणी से एक कलाकार की वाणी अधिक काल तक और अधिक दूर तक पहुँचेगी।' इतिहास चमत्कारो की गठरी नही। वह एक निरा उत्थान-पतन का 'प्रतीत्यसमुत्पाद' ही नहीं। न ही वह एक आवर्त्त-मात्र है कि स्पैंगलर की भाँति पुन प्रलयोन्मुख हो। इतिहास निश्चितरूपेण मानव-जीवन को अधिकाधिक समुन्नत बनाता है। उस दशा में कला के लिए कला, निरे नक्काशीवाले सौन्दर्यवाद का मूल्य क्या रहेगा ? मार्क्स ने एन्गेल्स को १८७३ में एक पत्र में लिखा था—'मैने साब्यूव की शातोब्रिया पर पुस्तक पढी। मुझे शातोब्रिया हमेशा नापसन्द रहा। इस व्यक्ति को फ्रास में इसलिए प्रतिष्ठा मिली कि इसने फ्रासीसी अहता को गुदगुदाया, अठारहवी सदी की हलकी अहता नही, परन्तु नये रोमैंटिक पोशाक और ताजा सिके शब्दो की सजावट से बनी अहता का वह प्रतीक है। उस अहता का अर्थ है झूठी गहराई, बायजरियनो का सा अतिरेक, भावुकता का छिनालपन, वैभव-प्रदर्शन—एक शब्द में आशय और आकार दोनो में अभूतपूर्व मिथ्या मिश्रण।'

जर्मन महाकवि गोइटे ने इसी कारण कहा था कि—

'वाट वेअर आई विदाउट दी ओ माई फ्रेंड दी पब्लिक ?

आल माई इम्प्रेशन्स मौनोलोग्ज साइलेंट आल माई जौएज।'

(अर्थात् हे मेरी मित्र जनता ! मैं तुम्हारे बिना कहाँ रहता ? मेरे सब भाव निरे एकमुखी भाषण होते, और मेरे सब आनन्द मूक रहते, उनका सहभागी कौन होता ?)

और आज का समकालीन फ्रासीसी क्रान्तिकारी प्रगतिशील कवि लुई अरॅगा ने

अपने 'ल यू देरसा' (१६४३) की भूमिका में स्पष्ट कहा है—'ज शाते लोमे। इत् मा शा ने'शे प्यू रिपधूजे दीत्र। पार को स्लू लामे मीम दात ला रैजान दीत्र ईस्त् ला वी तु ई मा स्यू फेमीरा अवोई, इन जे पाइ पारती यू ला माद' (अर्थात् मैं मनुष्य के गीत गाता हू। और मेरे गीतो का अस्तित्व समाप्त नही हो सकता, क्योकि मनुष्य के ही अस्तित्व का आधार जीवन है। तुम ही मेरे माने हुए कुटुम्ब हो, म तुम्हारी ही आँखो से दुनिया को देखता हूँ।) शहीदो की याद में लिखी एक कविता के अन्त में वह कहता है 'द म क्वी साई ए नो साइफ हूँ यू फ्रैश'' (मेरे शब्द प्यासो के लिए ताजे पानी का काम करेंगे!)

वस्तुत इतिहास के विकास मे जिन सामाजिक परिस्तिथियो का और घटनाओ का विशेष हाथ रहता है उन्हे न समझने के कारण इतिहास के प्रति एक स्थित्यात्मक दृष्टिकोण होने के कारण, हमारे कई समीक्षक बडी भूल कर जाते है। और फिर प्रगतिशील आलोचक उन्ही भूलो को लेकर विज्ञापित करते है। इसके लिए मार्क्स और एगेल्स के साहित्य कला सम्बन्धी कुछ विचार-सूत्रो का यहाँ अविकल अनुवाद देना अधिक उपयुक्त होगा—

इतिहास और आर्थिक कारण

फ्रेड्रिक एगेल्स के कान्नड श्मिड्ट को २७ अक्तूबर, १८६० को लिखे पत्र से—'यद्यपि प्रकृति के अधिकाधिक विकसित ज्ञान के मूल मे आर्थिक कारण ही प्रमुख थे, तथापि मानव जाति के आदिम विकास काल म भूत-प्रेत मे विश्वास जादू टोने के चलन इत्यादि के मूल में आर्थिक कारण खोजने बैठना सचमुच निरा पोस्तक व्यवसाय होगा। विज्ञान का आरम्भ इससे हुआ अवश्य, परन्तु ज्यो-ज्यो समाज की आर्थिक उत्पादन-व्यवस्था बदलती गई, सस्कृति का रूप बदलता गया। उदाहरणार्थ अठारहवी सदी मे फ्रास और जर्मनी में, दर्शन-साहित्य कला का विकास आर्थिक विकास के साथ-साथ चला। उस समय के आर्थिक प्रभावो का सूक्ष्म, अपरोक्ष प्रतिबिंब उस समय के दर्शन-विज्ञान विचारधारा में भी मिलता है। इस प्रकार आर्थिक कारण कुछ एकदम नया या चमत्कारिक निर्माण नही कर देते परन्तु एसी परिस्थिति की जमीन बना देते है कि जिससे विचारधारा बनती है, और आगे बदलती या बढ़ती है। राजनैतिक, वैधानिक, नैतिक क्रिया-प्रतिक्रिया का ऐसा सिलसिला बन जाता है कि जिनका विचार क्षेत्र पर प्रभाव पडता ही है। आर्थिक कारणो से तात्पर्य समूची उत्पादन-व्यवस्था से है। वही इतिहास के विकास को निश्चित करती है। हमारी जाति-वर्ण आदि सभी आर्थिक तत्व है। जब यह कहा जाता है कि राजनैतिक, वैधानिक, दार्शनिक, धार्मिक, साहित्यिक, कलात्मक विकास अतत. आर्थिक विकास पर अवलंबित है तब उसका अर्थ यह है कि यह सब विकास एक दूसरे को प्रभावित करते

रहते है। आर्थिक कारण अकेला कारण नही। सभी कारण कार्यशील होते रहते है; परन्तु आर्थिक आवश्यकता अतत अपने आपको सबसे अधिक प्रभावशाली" बना लेती हे। राज्य-व्यवस्था भी उससे नियोजित होती है। मनुष्य अपने इतिहास का स्वय निर्माता हे। परन्तु अभी वह स्थिति नही आ पाई है। आज तो मानव मानव के स्वार्थों मे सघष होता रहता है। कारण, अभी समाज-व्यवस्था आवश्यकताओ से शासित है, जो कि अलग-अलग 'अकस्मातो' (एक्सीडेंट्स) के रूप म पकट होती रहती हैं। यह आवश्यकता आर्थिक है। यही महापुरुषा का निर्माण सम्भव होता है। वे समाज-व्यवस्था को बदलना चाहते हे, परन्तु वे अपनी ही परिस्थितियो की उपज होते हे। एक महापुरुष को यदि उसके देश-काल परिस्थिति से अलग निकालकर देखे तो उसकी महत्ता नष्ट होने का भय है, और इसी प्रकार से यदि वह महापुरुष न भी हो तो अन्य हो सकता था।

सौन्दर्य के नियमो क अनुसार सचेतन उत्पादन और रचना

कार्ल मार्क्स के 'ओइकोनोमिश-फिलासाफिश्चे मन्युस्क्रिप्टे आउस डेम जाहरे १८४४' से—'मनुष्य अन्य प्राणियो की अपेक्षा अधिक सचेतन रचना करता है, यह मनुष्येतर सृष्टि और अचेतन प्रकृति की रचना के अध्ययन से स्पष्ट होगा। सचेतन से तात्पर्य ह कि मनुष्य अपने प्रति उसी प्रकार व्यवहार करता है जैसे अपनी जाति के अन्य प्राणियो के प्रति, और अन्य प्राणियो के प्रति उसी प्रकार से पेश आता है जैसे अपने आप से। वैसे तो, पशु-पक्षी भी रचना करते है। छत, घोसल, खोह, मकान-जैसी चीजें मधुमक्खिया, बया, चीटी वगैरह बनाते ही हैं। परन्तु वे केवल अपने या अपने बाल बच्चो की तात्कालिक आवश्यकताओ के लिए एकागी उत्पादन करते हे, मनुष्य सार्वजनिक और सर्वोपयोगी रचना करता है। पशु-पक्षी शारीरिक आवश्यकताओ से परे, और वस्तुत. इन आवश्यकताओ से जब छुट्टी पा लेता हे, तभी रचना करता है। पशु-पक्षियो आदि प्राणिजालो म केवल स्वय निर्माण करने की क्षमता है, मनुष्य तो पूरी प्रकृति को पुनर्निर्मित करता है, मथ डालता हे। उनकी रचना उनके शरीर से सम्बन्धित रहती है, मनुष्य अपनी रचना का स्वतन्त्र रूप से उपयोग करता है। पशु अपनी जाति की नाप और माँग के अनुसार रचते है, मनुष्य सब जातियो की माँग के और नाप के अनुसार रचता है—इतना ही नही अपनी वस्तु का वास्तविक नाप कहीं भी पहुँचा सकता है। अत मनुष्य भी सौन्दर्य के नियमो से रचना करता है।'

कला के मूल मे श्रम का महत्त्व

फ्रेडरिक एगल्स—'प्रकृति की द्वद्वात्मकता' मे—जिस दिन पहली बार मानव ने चकमक के पत्थर पर पत्थर रगडकर अग्नि की चिनगारी पैदा की, तब से चाकू बनाने तक बहुत सा काल बीत गया होगा। परन्तु एक महत्त्वपूर्ण घटना इस बीच में

हुई—हाथ मुक्त हो गया। इसका अर्थ यह हुआ कि हाथ अब सिर्फ चकमक नही रगडेगा, वह अधिक कुशलता और कलात्मकता ग्रहण करने लगा, जो कि पीढी दर पीढी बढती गई। इस प्रकार हाथ न सिर्फ श्रम का एक अस्त्र है, परन्तु श्रम से उत्पन्न एक वस्तु भी है। ज्यो ज्यो श्रम अपना रूप बदलता गया, हाथ की कला भी बढती गई, हाथ की कुशलता ने भी अपना रूप ग्रहण किया। यो नव नवीन प्रक्रियाएँ सीख-सीखकर, उनका वश-परम्परागत सामाजिकीकरण होते होते मास-पेशियाँ, शिराए, बाद मे हड्डियाँ तक अधिक सतुलित होती गई, और मानव और भी उलझे हुए, और भी सूक्ष्म और पहले असम्भव जान पडने वाले व्यापार करने लगा—यहाँ तक कि मनुष्य की कला अधिकाधिक पूर्णता ग्रहण करने लगी और वही आज राफाएल के चित्रो, थौरवाल्डसेन की मूर्तियो और पैगेनिनी के सगीत के रूप म हमें दिखाई देती है।

सौन्दर्य वृत्ति का विकास

काल मार्क्स उसी ऊपर उल्लख किये ग्रथ में—'सगीत से मनुष्य की सगीत-ग्राहक वृत्ति जागती है। सबसे अच्छा पक्का गाना भी जिसके गाना समझने के कान नही है उसके लिए निरर्थक है। इसलिए मेरी अपनी शक्ति और योग्यता पर बाह्य जगत् की रस ग्रहण शीलता निर्भर करेगी। और यह मेरी शक्ति इन्द्रियानुभूति की भी शक्ति कहाँ से बनी और जगी है? मानव-जाति की बढ़ती हुई वस्तुनिष्ठ सवेदनशीलता से ही न! केवल पाँच ज्ञानेन्द्रिय नही परन्तु हमारी कर्मेन्द्रिय भी (यहाँ तक कि सकल्प, अनुराग आदि भी) सक्षेप म मानवी सवेदनशीलता और सवेदनशीलता की सृष्टि मनुष्य के वस्तु-ज्ञान पर, मानव-कृति प्रकृति-विजय पर निभर है। यह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ आज जैसे बनी है, वह समूची मानव-जाति के इतिहास से निर्मित है। वे इन्द्रियाँ जो कि स्थूल व्यावहारिक आवश्यकताओ से सीमित थी, उनका अर्थ भी सीमित था—जैसे भूखे आदमी के लिए खाद्य का मानवीकृत रूप कोई अर्थ नही रखता—उसे तो केवल खाद्य का क्षुधा-निवारक रूप ही यथेष्ट है, उसे किसी खराब-से खराब रूप में भी वह ग्रहण कर सकता है, और बुभुक्षित और पशु के खाने मे जैसे फर्क नही रह जाता उसी प्रकार चिंतित गरीबी से पीडित व्यक्ति के लिए उत्तम से-उत्तम नाटक बेमाने है; और जो धातु का दलाल है उसे उस पीतल के बाजार दर से मतलब रहता है, न कि उस पीतल मे किये भास्कर्य के सौन्दय या मौलिकता से। यहाँ तक कि उस धातु व्यापारी को धातु-विज्ञान का भी ज्ञान नही होता। अर्थात् मानवी अस्तित्व का वस्तु-करण सैद्धान्तिक और क्रियात्मक रूप में हमारी इन्द्रियो को मानवीय बनाता है और मानवी और प्राकृतिक जीवन की विशद समृद्धि के समतुल्य मानवी मे नवीन इन्द्रियाँ या सवेदनशील वृत्ति को विकसित कराता है।' अतिम वाक्य का पूरा भावार्थ अनुवाद में नही आ पाया इसलिए मूल का अग्रेजी अनुवाद वाक्य देता हूँ—'हेन्स दी आब्जेक्टिवाइ-

जेशन ऑफ ह्यूमन एक्जिस्टेन्स, बोथ इन दि थ्योरिटिकल एण्ड प्रेक्टिकल वे, मीन्स मेकिंग मैंस सेन्सेज ह्यूमन ऐज वेल ऐज क्रिएटिंग ह्यूमन सेन्सेज कारस्पान्डिंग टु दी वास्ट रिचनेस ऑफ ह्यूमन एण्ड नेचरल लाइफ।'

प्राचीन रूपों को कहाँ तक अपनाया जाय ?

कार्ल मार्क्स फर्डिनैंड लासाल को २२ जुलाई, १८६१ के पत्र में—'तुमने सिद्ध किया है कि रोमन विधान को अपनाना गलतफहमी पर आधारित था। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उसी विधान का आज का रूप—आज के विधानशास्त्री चाहे जितना पुन रोमन विधान की गलतियों के आधार पर उसे ढालने की कोशिश क्यों न करते रहे हो तो भी रोमन विधान का गलत रूप है। इस प्रकार तो आने वाले युग द्वारा अपने से पहले युग का कोई भी रूप-ग्रहण गलत ग्रहण किया हुआ प्राचीन रूप कहलायेगा। लुई चौदहवें के काल के फ्रांसीसी नाटककार जिन त्रिसंधियों का प्रयोग करते थे, वह सिद्धान्त रूप से यूनानी नाटकों में अरस्तू द्वारा बताई त्रिसन्धियों का गलत प्रयोग था, परन्तु उन्होंने उन तीन संधियों का अपने काल की कला की आवश्यकता के अनुसार उपयोग कर लिया था, उन्हें अपने युग में ढाल लिया था। इसी कारण डेसियर आदि के अरस्तू का सही सही अर्थ देने के बाद भी वे अपने 'क्लासिकल' नाटकों से चिपटे रहे। उसी प्रकार से आज के कई आधुनिक विधान अंग्रेजी विधान के गलत समझे हुए रूप मात्र हैं। उदाहरणार्थ उत्तरदायी 'कैबिनेट' या प्रतिनिधि-परिषद् जो कि इंग्लैंड से भी नष्ट-प्राय हो गई और आज केवल ढाँचे के रूप में शेष है। इस प्रकार जिसे हम प्राचीन रूप या रीति का गलत अपनाना कहते हैं, वह वस्तुत. उसका साधारणीकरण होता है, और समाज के विकास की एक अवस्था में केवल वही साधारण रूप सम्भव होता है।

कुल ब्लाइफाफ ने अपने लेख 'फ्रेड्रिक एंगेल्स और भौतिकवादी सौन्दर्य-शास्त्र' में (माडर्न क्वार्टर्ली, ग्रीष्म १९४६ में प्रकाशित) एंगेल्स ने कान्रड श्मिड्ट को ५ अगस्त, १८९० में भेजे एक पत्र का अवतरण दिया है, जो हिन्दी के उन प्रगतिशील आलोचकों के लिए भी बहुत पठनीय है, जो भौतिकवाद को संकुचित अर्थ में लेते हैं—'हमारे कई तरुण लेखकों को भौतिकवादी' शब्द एक रामबाण की भाँति जान पड़ता है जो कि बिना विशेष अध्ययन के वे चाहे जिस चीज पर चाहे जहाँ प्रयुक्त कर देते है। हमारी इतिहास की कल्पना हमें आगे और अध्ययन के लिए प्रेरित करे ऐसी होनी चाहिए और केवल हेगेलपंथियों की भाँति यान्त्रिक पुर्जा का रूप नहीं होनी चाहिए। सभी इतिहास नये सिरे से पढ़ना होगा, समाज-विकास की सभी परि-स्थितियों का विचार करना होगा। अलग-अलग से और एक साथ, और तभी उसमें से राजनैतिक, सामाजिक, सौन्दर्य-विषयक, धार्मिक-दार्शनिक निर्णय हम निकाल सकेंगे।'

इस प्रकार भौतिकवादी सौन्दर्य शास्त्र के अध्येता के लिए एगेल्स ने दो विचार-बिन्दु प्रधान रूप से दिये है—(१) रूपात्मक पक्ष का विचार, अर्थात् वैचारिक पूर्वग्रह कैसे बनते है और (२) समाज के आधार और बाह्य रूप में कैसे परस्पर-सघात होता है ।

उसी प्रकार से साहित्य मे वास्तववाद या यथार्थवाद का अर्थ नग्न, भडकीले वर्णन कदापि नही । एगेल्स ने कुमारी हार्कनेस को उसके उपन्यास 'शहराती लडकी' (१८८८) की आलोचना मे लिखा था कि—'लेखक अपने विचारो को जितना छिपाये रखे, उभरने न दे, उतनी ही कला अच्छी होगी ।' कला म प्रचार किस हद तक हो, कला में जो यथार्थ दिखाया जाता है उसे जनता कहाँ तक समझती है, यह केवल हमारे देश के ही प्रश्न नही, फ्रास में भी इस पर अभी भी बहुत वाद-विवाद होता रहता है ।

साहित्य और कला में अन्तत शैली भी पूजीवादी समाज व्यवस्था में कैसे नियन्त्रित हो जाती है, इसका चित्र मार्क्स ने 'यूबेंट डाई न्यूएस्टे प्रतिश्चे जेनसुरिनस्ट्रक्शान' मे व्यगमयी शैली मे खीचा है—"मेरी सपत्ति है मेरा रूप, वह मेरा आध्यात्मिक व्यक्तित्व है । शैली ही व्यक्ति है । सो कैसे ! क़ानून मुझे लिखने देगा, इसी शर्त पर कि म ऐसी शैली में लिखूँ जो मेरी अपनी नही है; मुझे अपने भावो का चेहरा दिखाने की छूट तो है परन्तु पहले उस चेहरे को मै सरकारी साचे के अनुसार बना लू । कौन प्रतिष्ठित व्यक्ति इस कल्पना से नही लजायेगा और अपना चेहरा चोगे के नीचे छिपा नहीं लेगा ? मै हास्यरस का लेखक हूँ, तो कानून मुझे गम्भीर लिखने के लिए बाध्य करता है । मै बहुत वीरतापूर्ण लिखने वाला हूँ, पर कानून की आज्ञा है कि म नम्रता से लिखूँ । आत्मा का स्वभाव है सत्य, और आप उससे चाहते हैं नम्रता ? गोइटे का कहना है कि जो बनता है वही नम्र होता है, और आप आत्मा या भावना को यो ढोगी बनाना चाहते हैं ? और यदि नम्रता से तात्पर्य शिला कहते ये उस ऊँची सच्ची नम्रता से हो तो फिर आप अपने सब नागरिको को और सेन्सरो को महान् प्रतिभावान देवदूतो में पहिले परिवर्तित कीजिए ।"

अन्त में मार्क्सवादी विचारधारा और सौन्दर्यशास्त्र के इस विवेचन के भविष्य पर मै श्री शिवदानसिह चौहान के नव प्रकाशित 'साहित्य की परख' के प्रथम निबन्ध के बहुत सुन्दर विवेचन की ओर इगित कर, उसमे के अन्तिम परिच्छेद के दो वाक्य देना चाहता हूँ—'किसी एक विचारक के विचारो को हिन्दी पाठको के सामने पटककर के यह दुराग्रह करना कि साहित्य यह है या वह है, उसका लक्ष्य, प्रयोजन, सविधायक काम या सौन्दर्यमूल्य यह है या वह है, वैज्ञानिक आलोचना का दृष्टिकोण नही हो सकता और न सार-सचयन की भावना से किया गया विभिन्न दृष्टिकोणो का बलात् सयोग ही समन्वय कहा जा सकता है । समन्वय अवश्य होना चाहिए, और

मेरा विचार है कि प्रगतिवाद ने समन्वय के लिए व्यापक क्षेत्र तैयार किया है और उसमें समन्वित दृष्टिकोण के रूप म विकास करने की सभावनाए भी मौजूद है।" मै शिवदानसिंह जी से यहाँ तक सहमत हूं, परन्तु इसके बाद भी कुछ सौन्दर्य के मनोवैज्ञानिक पक्ष रह जाते ह जो नवीन मनोविज्ञान ने अवचेतन मन के अवगाहन के बाद प्राप्त किये ह। मार्क्स के समय उनका विचार असम्भव था। तब तक मनोविज्ञान काफी व्यक्तिवादी और विश्लेषणात्मक के रूप मे, अनिहारित दशा म था। आज उसने और अधिक प्रगति कर ली ह। अत मार्क्स के सामाजिक विश्लेषण को मान्य करते हुए भी, हमे उसके साहित्य कला के मूलारम्भ के विषय मे, कलाकार के मन की स्वप्न प्रक्रियाओ के विषय म दिये गये निर्णयो को अन्तिम नहीं मानना चाहिए। उन्हे नये ज्ञान विज्ञान के पार्श्व म परखना होगा। परन्तु मार्क्स की दी हुई तर्क पद्धति यहाँ पर भी बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

६

औचित्य क्या

प्रश्न १—आपकी दृष्टि में शास्त्रीय आलोचना का मूल्य क्या है ?

उत्तर—प्रश्न में 'आप' और 'शास्त्रीय' और 'मूल्य' यह तीनो शब्द सापेक्ष, अत चिन्त्य है। 'आप से' क्या तात्पर्य है ? मान लीजिये मै एक सन्त कवि हूँ, तो मुझे आपकी शास्त्रीय अशास्त्रीय आलोचना से क्या काम ? या कि मै एक छायावादी-रहस्यवादी हूँ, तो भी आपकी शास्त्रीय आलोचको की पकड में न आ पाने से ही मै अपना गौरव अनुभव करूँगा। परन्तु यदि म जैनेन्द्र के समान केवल अ-बुद्धिवादी (अतः शास्त्रीयता में अविश्वासी) नही हूँ तो मुझे आलोचना मात्र को मूल्य देना होगा।

मनोविज्ञान में बुद्धि (Intelligence) का एक लक्षण माना गया है आत्मालोचन (Auto criticism) वैसे यह युग ही आलोचना का है, यदि वाट की बात मान लें। मेरे मत से पूछें तो वह आलोचना आलोचना कहलाने के लिए ही अपात्र है जो शास्त्रीय नही है। आये दिन अखबारो में परिचय (नोटिस), सक्षिप्त निरीक्षण (रिव्यू) गुण-दोष विवेचन (स्क्रूटिनी), प्रशसा (एप्रीसिएशन) और निन्दा (लैशिंग) आदि कई साहित्य प्रकार गलती से आलोचना माने जाते है। समालोचना या समीक्षा (क्रिटिसिज्म) केवल गुण दोष-विवेचन से कुछ अधिक है। वह एक निर्णय भी है। वह एक मूल्य निर्धारण-पद्धति भी है इस दृष्टि से शास्त्र की सीमा है। शास्त्र अथवा विज्ञान केवल निरीक्षण-परीक्षण, प्रयोग, अनुमिति, तुलना आदि पद्धतियो से आलोच्य वस्तु (ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकार) का विश्लेषण मात्र प्रस्तुत करता है। मेंढक की चीर-फाड करने वाले प्राणीशास्त्रज्ञ के मन में मेंढक के प्रति सहानुभूति अपेक्षित नही है। दूसरी चीज जो शास्त्र अपने विश्लेषण के आग्रह में भूल जाता है, वह है सामग्र्य का अभाव। विज्ञान टुकडो में विभक्त सत्य देखता है। समग्र जीवन्त रसमय सत्य उसके सामने नहीं होता। इलियट के 'ईथराइज्ड पेशेंट लाइग आन ए टेबल' की भाँति ही सत्य उसकी वैज्ञानिकता को सुँघाकर, उसकी इच्छानुसार ही उसकी खुर्दबीन के सामने आता है। साहित्य के हक में यह स्थिति विशेष सुखद नही है।

असल में विज्ञान एक ओर और दर्शन दूसरी ओर और बीच में है साहित्य। विज्ञान वास्तव को अधिकाधिक जानता है, दर्शन सत्य के अन्तिम छोर के अनुभव के

लिए छटपटाता है, साहित्य चाहता है कि आदर्श और यथार्थ का वास्तव और सत्य का एक रसभासमय समन्वय उपस्थित करे। अगर आप दार्शनिक शब्दावली के उपयोग से परहेज़ न करें तो विज्ञान Reality, दर्शन Truth और साहित्य Appearance को पकड़ने की कोशिश में हैं।

जैसे साध्यो में अन्तर है, साधनों में भी अन्तर है, विज्ञान का मार्ग मस्तिष्क का, विचार का, तर्कना का है, दर्शन का मार्ग आत्मानुभूति का राग विराग, बोध-अनुबोध के परे की Intuition का है, और साहित्य का मार्ग भावना का, हृदय के आवेग सवेगो का है। मूलत तीनो क्रियाएँ परस्पर-परिपोषक है विज्ञान का कर्मयोग, दर्शन का ज्ञानयोग और साहित्य (काव्य) का भक्तियोग। ये परस्परपूरक ही है। यदि चेतना को एक अन्त सलिला प्रवाह मान लिया जाय, तो साहित्य की गुप्त सरस्वती सौन्दर्य की सेविका है। दर्शन की गगा सत्य से मिलने जा रही है। विज्ञान की यमुना भी उसी का सहयोग दे रही है।

क्षमा कीजिये, त्रिवेणी-सगम और योग-भेदो के पुराने ही रूपको का मैंने सहारा लिया है। परन्तु साहित्य-कला के मूल्य-निर्धारण मे मै स्पष्टत दो पक्ष प्रमुख देखता हूँ, एक उनका जो साहित्य-कला को साहित्य कला के ही अपने तर्क और मानदण्डो से नापना जाँचना चाहते हैं; दूसरा उनका जो साहित्य-कला को उससे बाहर के किन्हीं अन्य (चाहे राजनैतिक या आर्थिक या ऐतिहासिक या नैतिक या धार्मिक हो) मानो से नापना चाहते है। मै पहले मत के पक्ष में हूँ।

परन्तु चूँकि आज ज्ञान-विज्ञान और कला-साहित्य कुछ कटी-छँटी चीजें नही रही हैं, और साहित्य-सर्जना तथा आलोचना ये दोनो पक्ष भी अभिन्न होते जा रहे है, मेरा अपना मत है कि साहित्यालोचन के क्षेत्र में दो विज्ञानो का सहयोग बहुत आवश्यक है। चूँकि समस्त कला, व्यक्ति कलाकार के मन से निकलकर समाज में जाकर मिलती है, मिटती है—अतः मनोविज्ञान और समाजविज्ञान का अध्ययन उसके नवजीवन आविष्कारो से अभिज्ञता आलोचक की एक प्राथमिक शर्त है। राबर्ट ओसबर्न ने अपने 'फ्रायड एड मार्क्स' ग्रन्थ में भी यही बात प्रमाणित की है कि ये दोनो ही चिन्तक परस्पर पूरक थे, न कि जैसे काडवेल अपने एकातिक आवेश में 'स्टडीज इन डाइग कल्चर' में 'फ्रायड' प्रकरण में उसे 'रुग्ण और ह्रासोन्मुख उच्च-वर्ग का चारण' मात्र मानता है।

मेरी अल्पमति में आज का आलोचक इन दो चिन्तको से मूल्य-निर्धारण में बहुत कुछ सहायता प्राप्त करेगा। क्योकि आज मूल्य-निर्धारण यह विषय केवल वैयक्तिक रुचि-अरुचि का न रहकर सार्वनीन विषय बन चुका है।

प्रश्न २—क्या आनन्द स्वयम् आलोचना का एक मूल्य हो सकता है ?

इस मत को मानने वाले ब्रह्मानन्दसहोदरवादी कम नहीं हैं। इसमें 'स्वान्त-सुखाय' वाले तुलसी से सन्त नीति शास्त्र को सुखवाद (हीडोनिज्म) में परिवर्तित करने वाले उपयोगितावादी और आचारवादी (यूटिलिटेरियनिस्ट्स और प्रैगमैटिस्ट्स) तथा कुछ बोजांके जैसे आदर्शवादी दार्शनिकों से लगाकर कला को एक अनुत्तरदायित्व-पूर्ण, असामाजिक, व्यक्ति की इच्छा अनिच्छा का विषय मानने वाले कवियो तक सब शामिल है।

आनन्द को आलोचना का मापदण्ड मानने वालो में मुख्यत दो दल है—एक तो ऐन्द्रेयिक इच्छापूर्ति मात्र को आनन्द मानने वाले, फ्रेंच मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यवादी, दूसरे उससे ज़रा ऊँचे सार्वजनीन सुख की अधिष्ठात्री कला को मानने वाले ब्रिटिश या अमरीकन उपयोगितावादी। पहले वर्ग के समर्थन में अंग्रेज़ी साहित्य में आस्कर वाइल्ड, वाल्टर पेटर आदि 'कला के-लिए कला'-वादी कई दिनो तक फैशनेबल माने गये। फिर मनोविज्ञान ने आकर उन पर प्रहार किया कि ये तो स्व रस्यात्मकता या आत्मसम्भोग (नारसिसिज्म) का ही प्रचार कर रहे है। 'मोनिस्ट' एक दार्शनिको का पत्र था। उसके जौलाई १६२६ के अक में १६१४-२६ के बीच के सौन्दर्य विज्ञान सम्बन्धी फ्रास मे हुए अन्वेषणो का सक्षिप्त लेखा-जोखा मैरीज चौइज ने दिया है। उनके अनुसार कला के मूलाधार आनन्द की कई मजेदार उत्पत्तियाँ है, यथा—

(क) ज्यूल्स द गॉल्सेयर के मतानुसार मानव में आरम्भ में 'सेंसिबिलीते मेसियॉनीक' (अर्थात् मसीहा बनने की प्रवृत्ति) रहती है, जो धीरे-धीरे विकासवाद के अनुसार 'सेंसिबिलीते स्पेक्टॉकुलर' (अर्थात् केवल दर्शक बनकर आनन्द ग्रहण की प्रवृत्ति) में परिवर्तित होती है। व्यक्ति में सवेदना (सेंसेसन) से अनुबोध (पर्सेप्शन) में परिवर्तन इसी का प्रमाण है। विकास के तत्त्व की दृष्टि से 'सत्य' यह अन्तिम मूल्य न रहकर धीरे-धीरे वह 'सौन्दर्य' मे परिवर्तित होगा।

(ख) मोशिये लासो के मत से मूल्य-निर्धारण के समय हमें सर्वसाधारण के मूल्य को आधार मानना चाहिये। उनके मत से कला का जीवन में पाँच प्रकार का योगदान है—(१) वास्तव से पलायन, (२) परिष्कार (कैथैंसिस), (३) अश्लील या अश्लाध्य को ढाँककर सँवारकर रखने की प्रवृत्ति, (४) केवल कला की प्रक्रिया में आनन्द और (५) सरल यथार्थ की पुनर्स्थापना का प्रयत्न।

(ग) मो. एच वालेकाई के मत से सौन्दर्य-विषयक भावना के मूलारम्भ में सदा कुछ ऐन्द्रेयिक तत्त्व विद्यमान रहता है, यद्यपि उसका कल्पना तथा स्वप्न द्वारा बौद्धिकीकरण (Intellectualizing) कम महत्त्व का नहीं। यथा भाषा का जन्म।

(घ) मो. ए. दजार्त और माँ. पौलहॅन के मत से जब प्राकृतिक प्रेम सामाजिक

कृत्रिमताओं से आबद्ध और निरुद्ध होता है, तब वर्जनाएँ हमारे जीवन के आस-पास खडी हो जाती हे । इन्ही निरुद्ध और अवरुद्ध आकाक्षाओ म से कला जन्म लेती है ।

(ङ) हेन्साड, डा० विशौत, आदि कला को अवचेतन की स्वप्नकेलि मानते हे । और चार्ल्स बौदाई तो फ्रायड के ही मत की परिपुष्टि करता हे कि कला द्वारा आत्महनन की पवत्ति को कलाकार मुक्त करता है ।

(च) गोमों-बन्धु कला को सुख की शोध मानते हे । यह सुख आसपास और चहुँ ओर से समझौते मे, अभेदानुभव में है । अत कला अमरत्व की इच्छा तथा प्रजनन द्वारा पीढी-दर-पीढी अपने आपको बनाये रखने की इच्छा के समकक्ष है ।

(छ) फ्यूचरिस्ट (यथा मैरिनेट्टी) कला चिन्ता मे गतितत्व को प्राधान्य देते ह । सुररियलिस्ट (यथा फिलिप सौपौल्ट, जोसेफ डेल्टेल आदि) सक्षिप्तता तथा आवेगात्मक अभिव्यजना (Impulsive expression) को ।

[इन मतो के साथ ही साथ छठी अन्तर्राष्ट्रीय दर्शन परिषद के वृत्तान्त में पृ० ४३७ से पृ० ४५५ तक जो तीन महत्त्व के लेख हे, उन्हे भी इस विषय के अध्येता को पढ जाना चाहिये । वे है

Wish-Fulfillment and Intuition in Art

(*By*—D W N Parker)

The Foundations of Aesthetics

(*By*—E P Nowes)

Objective Form and its Role in Aesthetics

(*By*—I G Cambell)]

कला समीक्षा में आनन्दवाद अथवा सुखवाद का सर्वोत्तम समर्थन हेनरी रजर्स मार्शल की एक पचास वर्ष पुरानी पुस्तक 'Pain, Pleasure and Aesthetics' में विस्तारपूर्वक मिलता हे । विशेषत उसके अन्तिम अध्याय Algedonic Aesthetics में जहाँ कि वह नीतिशास्त्र की उसी पुरानी मान्यता को दुहराता है कि 'अच्छा वही है जो सुखदायक हे, और जो सुखदायक हे वही अच्छा है—शिवम् आनन्दम् एक है ।'

इस 'सौन्दर्यशास्त्रगत सुखवाद' की तर्कयुक्त सुन्दर धज्जियाँ उडाई है जॉन डिवी ने अपने एक नये ग्रन्थ 'Art as Experience' के ग्यारहवें अध्याय में । सक्षेप में उसके मतानुसार यह आनन्दवाद इसलिए टिक नही सकता कि—

क सौन्दर्य वही क्यो जो हमारी उच्चतर इन्द्रिय सवेदनाओ को व्यक्त करे ? पक्का गाना तो सौन्दर्य का विषय है क्योकि उसमें परिष्कृत रुचि का प्रश्न है; पक्का खाना सुन्दर क्यों नही ?—वह भी तो आनन्द देता है । पाक-कला क्यो नही ललित-

कला, क्यो वह उपयोगी कला है ?

ख॰ यदि कला को क्रीडा मानकर आनन्द ही उसका उद्देश्य माना जाय, तो सभी खेल तो कलात्मक नही होते। उदाहरणार्थ, मृगया या मनुष्यो का मनुष्यो द्वारा प्रपीडन की (ग्लैडियेटरो के रोमन खेल)। और इस क्रीडा की इच्छामात्र से तो कोई नीति निर्धारित नही होगी ?

ग सुखवादी कला को शृङ्गार और वीर-रस की आदिम भावनाओ से जोडते है। यह बात आदिम-मानव के सम्बन्ध मे कहाँ तक सच मानी जाय, यह स्वय सन्देहास्पद है। करुणा क्यो नही है आदिम कला-विकार और उससे कसी आनन्दोपलब्धि होती है ?

घ यदि सौन्दर्य-विज्ञान एक सहानुभव पर आश्रित वस्तु है, तो उसमें व्यक्ति की सुखैषणा ही कला का आधार है यह सिद्धान्त कैसे टिक सकता है ? दो व्यक्ति क्यो एक ही चीज में आनन्द माने ?

ङ काट आदि बुद्धिवादी सौन्दय को राग-विराग के परे की वृत्ति मानते है। मूल्य-निर्धारण में ऐसी मानसिक तटस्थता आवश्यक है। जहाँ आनन्दादि आलोच्य वस्तु से तादात्म्य कराने वाली भावुक वृत्तियाँ है, वहाँ मूल्य निर्धारण कैसे सम्भव है ?

अत इस विवाद को आगे न बढाकर मै बर्नर्ड बोजांके के 'थ्री लेक्चर्स ऑन एस्थटिक्स' के एक वाक्य को आधार मानता हूँ कि 'सच्चा आलोचक वही है जो कि योग्य प्रकार से कलाकृति द्वारा आनन्द ग्रहण कराना सिखाये। मधुमक्षिका की भाति वह फूलो का पराग एकत्रित कर शहद-सा सुनहरा और मीठा सत्य सब को दे। परन्तु वह स्वय अगर मधु म डूबा रहा, तो उसकी मृत्यु वही निश्चित है।'

फिर यहाँ सांत बूव्ह की एक बात भी मुझे जँचती है कि 'प्रकृति विविधता से भरी हुई है। प्रतिभा के रूप अनेक है। फिर ऐ आलोचक ! तू ही क्यो एक ही 'काट' (पेटर्न) का आग्रह धरता है।' (लोकी क्रिटिकी, पृ० ४१५)

रविबाबू ने अपने 'सृजनात्मक अभेद' में 'कलाकार के धर्म' म इस औपनिषदिक 'आनन्दमरूपममृतम्' मन्त्र को बहुत बार दुहराया है। परन्तु क्या कलाकृति का मूल्य इसी मे कम हो जाता है कि बजाय वह मीठी मीठी गुदगुदी आपको देने के, थप्पड देती है, चोट करती है या वितृष्णा से आपका मन भर देती है ?

प्रश्न ३—सौन्दर्य के साथ क्या उपयोगिता और आचार का प्रश्न सम्बद्ध किया जा सकता है ?

पुन यह प्रश्न साहित्य के क्षेत्र के बाहर का है। जहाँ पिछला प्रश्न मनोविज्ञान के क्षेत्र का था, यह नीति-विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला है।

किसी ने पूछा है—

Is there any moral shut
Within the bosom of a bud ?

अर्थात्

कली के अन्तराल में सुप्त
नीति का है क्या कोई तत्त्व ?

वर्ड्स्वर्थ का उत्तर होगा—नही, नही मुझे तो पत्थरों में परोपकार से प्रवचन और झरनों में वेद पडे मिलते है (Sermons in stones and books in running brooks)

दूसरे किसी टेनीसन जैसे का उत्तर होगा—यह जो सत्य, शिव, सुन्दर, तुम तीन अलग नामो से पुकारते हो, एक ही मूल्यवान् मणि के तीन पहलू (facets) हैं।

तात्पय यह है कि यद्यपि उपर्युक्त कवि का प्रश्न कि कली के भीतर कोई नीति-तत्त्व निहित नही है, ऊपर से दिखाई देने म बडा सरल है, असल में वह जटिल है। विशुद्ध सौन्दर्य जसी कोई चीज सिवा हमारे भावलोक के कही बाह्य जगत् मे नही बसती। हमारा भाव-जगत् भी अन्तत सामाजिक परिपार्श्व मे बनता मिटता रहता है। जो एक हौटेंटोग के लिए सुन्दर और प्रेय होगा, शायद आपके लिए वह असुन्दर हो। और जो आज उपयोगी है, कल न रहे—चाहे वे मनु के नियम हो, चाहे मूसा के। आचार शब्द भी बडा सापेक्ष ह। तिब्बत मे वधू के सौन्दर्य की परीक्षा उसके ललाट और हथेली पर जमे मैल की अधिकाधिक पुटो से करते है। यही वहाँ का आचार है। एक युग मे जो सती-प्रथा या अछूत व्यवस्था सदाचार थी, आज दुराचार मानी जाती है। सो, जीवन के देखने की इन तीन दृष्टियो को यो काट-पीटकर अलग न कीजिये। जीवन पानी की सतह की भाँति है। जिस पर लाख तलवारो के प्रहार कीजिये, वह कटता ही नही।

आचार कर्म का प्रश्न है, सौन्दर्य भावना का और उपयोगिता सुविधा का। कर्म और भावना में वैसा मौलिक विरोध नही है जैसा कि आज के मानव में दिखाई देता है। अत. जो अनभिव्यक्त कम है वही भावना है, भावना की अभिव्यञ्जना कम है। सद्प्रवृत्ति या सौन्दर्य-प्रेम हमे सदाचार की ओर प्रवृत्त करता है। परन्तु आप पूछेंगे कि बहुत बार सौन्दर्य के प्रति आसक्ति क्या दुराचार के लिए प्रवृत्त नही करती ? फूल का लालच उसे चुराने की ओर हमें प्रेरित कर सकता है, या जैसे अल्लाउद्दीन और पद्मिनी का प्रसग प्रसिद्ध है, या आये दिन समाचार-पत्रो में पढ़ते है, वे बलात्कार की घटनाएँ उदाहरण है। यहाँ प्रकृति सुन्दर नही है, अतः कर्म भी दुराचारमय है। पुन. पुण्य और पाप के भी बाँट बदलते रहते हैं। 'त्यागपत्र'

की मृणाल, का आचरण या शेखर का शशि से सम्बन्ध आज हम पुरानी तुला पर नही तौलते। Intention (हेतु) और Motive (उद्देश्य) को हम देखते है। अब दुनिया वाले वैसे नही रहे कि साकेतकार के शब्दो में सिर्फ—'काम नही, परिणाम निरखते' हो, उपयोगिता के भी मान बदलते है। कल तक शिवाजी छत्रशाल की तलवार की प्रशसा या वीरपूजा बडी चीज थी, उपयोगी भी उसे कुछ हद तक कह सकते थे, आज 'परमाणु बम' के युग में वह सब निरर्थक है, निरुपयोगी है।

आशय, मेरे मत से सौन्दर्य में उपयोगिता या आचार को सबद्ध करने का प्रश्न ही नहीं बचता, चूँकि सौन्दर्य स्वय एक अरूप, अमूर्त्त भावना है और वह हमारे आचार, उपयोगिता, विचार और सैकडो अन्य वस्तुओ से मिलकर बनती है। उन सब की चर्चा यहाँ अनावश्यक है।

प्रश्न ४—प्रभाववादी आलोचको का मूल आधार क्या है ?

मै प्रश्न को समझा नहीं। प्रभाववादी से क्या तात्पर्य ? स्पिगर्न का हवाला देकर प० रामचन्द्र शुक्ल ने उसे 'जनानी' आलोचना कहा है। आलोचक के मन पर पडने वाला प्रभाव व्यक्त करने वाली, या पाठक के मानसिक प्रभावो की आलोचना करने वाली ? प्रभाववादी शब्द क्या Impressionist के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है ? यह शब्द प्रभाव, बिम्ब अथवा 'इप्रेशन' स्वय ऐसा निर्मूल और निराधार है कि उसका मूलाधार-चक्र बेचारा क्या होगा ? हिन्दी में मेरे मत से प० पद्मसिह के बाद प्रकाशचन्द्र गुप्त वैसे प्रभाववादी आलोचक है।

मै जहां तक जान पाया हूँ यह शब्द मूलत चित्रकला के एक सम्प्रदाय से लिया गया है। वहाँ से वह कविता मे प्रयुक्त हुआ और वहाँ से वह आलोचना मे आया है। इसका अर्थ यही है कि एक कलाकृति को देखकर, सुनकर, पढ़कर आलोचक के मन में जो विविध मानसिक आघात-प्रत्याघात हो उन्हें बिना किसी Sofistication या मँझले सेंसर के ज्यो-त्यो ईमानदारी से, आलोचक व्यक्त कर दे। यो बहुत से 'प्रभाव' एकत्र होकर, कुछ समग्र रूप-सा आलोच्य वस्तु का बन पायेगा अर्थात् आलोचक का यह दावा कि वह लेखक के अर्थ को पूरी तरह पा ही गया है, यहाँ फीका ठहरेगा। वर्जीनिया वूल्फ ने अपने 'दी कामन रीडर' में इसकी विवेचना की है। वह कहती है—'जीवन कोई करीने से सजे-सजाये दीयो का नुमायश नहीं है, जो उन्हे गिन लिया और छुट्टी पाई। वह तो एक ऐसा आभावलय है जो आसानी से शब्दो में नहीं बाँधा जा सकता, उसमें मन की सभी क्रिया-प्रतिक्रियाओ का नित नया आन्दोलन प्रतिबिंबित है'

प्रभाववादी कविता के सम्बन्ध में जैसे नियम बनाना मुश्किल है, प्रभाववादी आलोचना की भी रूपरेखा अनिश्चित है।

प्रश्न ५—आधुनिक समालोचना की मूल प्रवृत्तियां कौन-कौनसी हैं और हमारी

साहित्यिक प्रगति के लिए उनका क्या मूल्य है ?

प्रश्न को हिन्दी की ही सीमा में लें। हिन्दी की आधुनिक समालोचना के स्थूल रूप से कुछ ऐसे वर्ग हो सकते हैं—(१) पाण्डित्यपूर्ण, (२) छायावादी, (३) मार्क्सवादी और (४) मनोवैज्ञानिक।

पहले दो तो विद्यार्थियो के लिए बहुत उपयोगी कार्य कर रहे है। तीसरे सबसे अधिक प्रगतिशील है। यदि उनका कुछ कठमुल्लापन और 'थ्योरी' से अधिक चिपटने की प्रवृत्ति कम हो तो सबसे अधिक मूल्य इसी आलोचनाधारा का है। चौथी धारा एकाकी, त्रिशकु, विजनवती आलोचना की है जो कि तीसरी के अनावश्यक आवेश को 'ब्रेक' का काम करती है। जो आलोचना शैली आगे हिन्दी में स्थायी होगी वह इन चारो प्रकारो की एक सुन्दर नवीन अन्विति (Synthesis) होगी।

प्रश्न ६—क्या आप यह समझते हैं कि प्रगतिवादी के लिए प्राचीन साहित्य और रस-सिद्धान्त से पराङ्मुख होना आवश्यक है ?

हरएक प्रगतिवादी के लिए क्या आवश्यक है और क्या अनावश्यक है इसका निर्णय आप और हम करने वाले कौन होते है ? यह निर्णय तो प्रगतिवादी ही करेगा। जहाँ तक प्रगतिवाद को मैंने समझा है, ऐसी पराङ्मुखता आवश्यक नही। राहुल साकृत्यायन ने 'हस' में गत वर्ष प्रगतिवाद पर लेख लिखा था, उसमें स्पष्ट था कि वे प्राचीन सास्कृतिक धरोहर और कलात्मक रूपो से किसी भी प्रकार अपने को विच्छिन्न नही मानते। केवल वे पुरानी बातो में नया आशय और नये प्राण फूँकना चाहते है। उदाहरणार्थ, जननाट्य सघ की रामलीला। अत प्राचीन साहित्य न पढ़ो ऐसा तो कोई भी प्रगतिवादी नही कहेगा। हाँ, पोगापथी मत बनो यह तो हर कोई सयाना आदमी कहेगा। प्राचीन साहित्य (तुलसी-रामायण और महाभारत) का अनुवाद एक अत्यन्त प्रगतिशील राष्ट्र सोवियत् में हो रहा है जो इस बात का प्रमाण है कि प्रगति का और प्राचीन सास्कृतिक परम्परा का कोई तीन और छ का रिश्ता नहीं है।

चूंकि रस-सिद्धान्त कोई अटल वस्तु नही हे, छद, अलकार-विधान, भाषा आदि बाह्यरूपो के समान, इनकी भी नये सिरे से पुनर्व्याख्या होना आवश्यक है। प्राचीन रस-सिद्धान्त रचनाकारो के समय ससार बहुत छोटा था, सरल था। आज समाज-जीवन के प्रश्न अधिक जटिल बन गये हैं और आज का कवि जहाँ आडेन के शब्दो में स्वय नये ससार और नये इतिहास-निर्माण की आत्मविश्वासपूर्ण 'हुकार' कर रहा है, वहाँ बेचारे रस-सिद्धान्त तो कहाँ के कहाँ उलट-पुलट जायँगे ही, फिर भी उन्हे बदलने के लिए भी, उनका अध्ययन तो आवश्यक है ही। पराङ्मुख तो प्रगतिवादी केवल प्रतिक्रिया और पलायन से होगा, अन्य किसी से नही।

७

आलोचना रचनात्मक हो

शीर्षक में कुछ ऐसा भाव दीख पड़ता है कि मानो ऐसी भी आलोचना कुछ होती है जो नकारात्मक हो, या ध्वसवादी हो। राजनैतिक पक्ष-परिचालित आलोचना जिसमें पक्ष धरत्व (पार्टी-इज्म) प्रधान हो ऐसी ही सकीर्ण और नकारात्मक होती है। इसके उदाहरण हिन्दी में कभी नही देखे गये कि किसी लेखक को अपने पक्षवादी मतो के व्यस्त स्वार्थों के कारण रातो रात प्रगतिवादी घोषित कर दिया गया, और बाद में उसी के लेखन की एसी निन्दा शुरू की कि मानो उसके जान के गाहक हो। ऐसी बटमारी साहित्य के क्षेत्र में नही चला करती।

दूसरी बात यह है कि 'रचनात्मक' शब्द में कुछ जीवतता, कुछ गति, कुछ विकास और कुछ और कुछ स्वय-निर्मित, स्वय-शासित पुरोहगमन, ऊर्ध्वचैतन्य भा सन्निहित है। वे विद्वान् जो मम्मट, रुद्रट, वामन भामह, के 'धमकाँटे' पर ही समूचा साहित्य (देशी-विदेशी और आधुनिक भी) तौलना चाहते है, वे बडी गलती करते है। साहित्यिक क्षेत्र में बटखरे और उधार नहीं लिये जाते यह सही है, पर अब हम नये युग, नये परिमाण और नये मापदडो के युग में जीते है यह नही भूलना चाहिये।

एक सभा में हिन्दी के सक स्वनामधन्य प्रगतिवादी आलोचक महोदय बोले—'मेरा काम आलोचना करना है। मेरा काम रचनात्मक साहित्य रचना तो नही है।'

यह वाक्य बहुत अर्थपूर्ण है। प्रश्न यह है कि यदि आलोचक का काम रचनात्मक साहित्य से अलग है तो वह क्या है? क्या वह निरी चीर-फाड है। ऐसे साहित्य-डाक्टरो की कमी नही है जो यह मानकर चलते है कि साहित्य और साहित्यिक इस समय किसी घोर गतिरोध, प्रतिक्रिया आदि-आदि नामो से विभूषित रोग से ग्रस्त है, और उन्हे डोज पर डोज दवा पिलाना उनका ही काम है। परन्तु यह स्वय साहित्य-वैद्य या नीम-हकीम कभी अपने भी बारे में सोचते है क्या?

माना कि यह युग ह्रासोन्मुख (डिकेडेंट) है। और पूँजीवादी, विकृत, अश्लील आदि-आदि विशेषणो से विभूषित समाज-व्यवस्था है तो यह आलोचक महोदय जो अपने को सुप्रीम जज मानते है, क्या इन सब स्थिति गतियो से परे किसी ऐसे लोक में बसते है जो इससे परे है? यदि ऐसी बात नहीं है तो आलोचक भी उन सभी मान्यताओ के उतने ही शिकार है जितने कि लेखक।

वस्तुत साहित्य के क्षेत्र में रचनात्मक साहित्य और आलोचनात्मक साहित्य

में इस प्रकार द्वैत निर्माण करना या मानकर चलना खतरे से खाली नही है। नीचे मै वर्तमान हिन्दी आलोचना-पद्धतियो के स्तरो की चर्चा करना चाहता हूँ। व्यक्तियो के उल्लेख मै जान-बूझकर टाल रहा हूँ। समझदार पाठक उन्हे सकेत से समझ लेगे।

१

आज हिन्दी में यह दशा है कि एक ओर तो नारा है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा हो गई, अत उसके अभावो की सर्वाङ्गीण पूर्ति हो। उसमें उत्तमोत्तम, उपयोगी और सुन्दर साहित्य सिरजा जाय। इस विषय में सस्थाएँ, शासन, साहित्यिक दलो की ओर से और व्यक्तिगत रूप से भी बहुत कुछ कार्य हो रहा है। वह अपने-अपने ढग पर शुभ है। प्रकाशको की शिकायत है कि उनकी किताबें कोर्स हुए बिना बिकती नही। दूसरी ओर साधारण पाठक की शिकायत यह है कि नयी हिन्दी कविता उसका समझ में नहीं आती। उसे कही पर स्टेज पर खेलना हो तो उसके लायक नाटक नही मिलते। लडकियो-स्त्रियो को सिवा सस्ती चवन्नी वाली 'सेक्सी' कहानियो की पत्रिकाओ के कोई बढ़िया उपन्यास-कथाएँ नही मिलती। वे अपनी तृषा शरत और प्रेमचन्द से ही पूरी कर लेती है। और आलोचना का तो पूछिये ही नही उसके स्तर बँध गये हैं—

क स्कूल कालेज की विद्यार्थियोपयोगी कुजीवादी आलोचना। अमुक-अमुक लेखक 'एक अध्ययन' वो 'मीमासा' या ऐसे ही नामो से कोई लेखक चदबरदाई से प्रेमचन्द तक हिन्दी में नही बचा है। इस स्तर की आलोचना का यह लाभ है कि विद्यार्थी कठिन मूल न पढकर, सस्ती टीकाओ से परीक्षा पास कर लेता है, वहाँ एक बडी हानि यह है कि आलोचना के स्तर को इस प्रकार की सस्ती किताबो ने पनियल बना दिया। यानी विचार के स्तर से आलोचना निरे गद्य-अन्वय और भाष्य के स्तर पर उतर आई। विद्यार्थियो की स्वतन्त्र चिंतन-शक्ति को प्रोत्साहन देने के बदले, उसने उन्हे 'रेडीमेड' बैसाखियो का सहारा लेने की आदत डालकर, उनकी खोज और जिज्ञासा की वृत्ति को समाप्त कर दिया। यह आलोचना-पद्धति निरी पूरक है, रचनात्मक नही।

ख दूसरी आलोचना-पद्धति है, विश्लेषणवादी ढङ्ग से दिमाग में पहल से कुछ चौखटे बनाकर, उन तहखानो में या दडबो में लेखको की कला को 'सार्ट' कर देना। यह 'लेबलो' से चलने वाली आलोचना है। जैसे अमुक-अमुक लेखक रसवादी है, गान्धीवादी है, छायावादी है, रहस्यवादी है, प्रगतिवादी हैं, आतरकीवादी हैं, आदि आदि ? इस आलोचना-पद्धति का गुण जहाँ यह है कि जिन दिमागो में तर्क-शक्ति नहीं होती, जो सूक्ष्म विश्लेषण नही कर सकते, उन्हे बडा सहारा मिल जाता है, और वे सहज ही उस कलाकृति की 'जाति' (स्पीशीज) को चीह्नने लगते हैं। परन्तु सबसे बडी कमी इस पद्धति में यह है कि जहाँ कोई नयी प्रतिभा, एक नया

साहित्यिक प्रयोग, एक नया विद्युत्प्राय विचारकण आया कि ये कटे कटाये नाप वहाँ अधूरे पड़ जाते हे । और ये आलोचक बौखलाकर या तो नया 'वाद' खोजने लगते है, या कहने लगते हे, अमुक-अमुक लेखक अब तक छायावादी था, बाद मे प्रगतिवादी बना, परन्तु क्या कहे अब वह अरविन्दवादी हो गया ? जैसे उसके इस प्रकार के रूप-परिवर्तन मे कोई विकास रेखा या अन्विति हे ही नही ? यह सब 'वाद' क्या वह लेखक ऐसे बदलता जाता हे, जैसे कोई अपना कपडा या कोट बदलता हे ? और इस प्रकार की पूर्वाग्रह पूर्ण पूर्वग्रह दूषित आलोचना नवीन मौलिकता का मूल्याङ्कन करने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुई हे । वह बोखलाकर ध्वसवाद की शरण लेती हे ।

ग तीसरी आलोचना पद्धति तटस्थ रस ग्रहण के नाम पर गुण-दोष विवेचन का निष्काम यत्न हे । पहले तो इतनी तटस्थता जितनी आलोचक अपने तई मानकर चलता है, उसमें होती नही । दूसरे गुण और दोष के विवेचन का अर्थ हे कि एक मूल्याङ्कन के पहले कुछ निर्दिष्ट मूल्य होने ही चाहिएँ । आज के युग में आकर साहित्य के क्षेत्र मे साहित्य-शास्त्र के अपने मूल्य जैसे ना काफी हो गये है । और इतिहास, दर्शन, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, प्राणीविज्ञान, मनोविज्ञान आदि आदि बाह्य मूल्य महत्त्वपूर्ण हो गये है । इस सम्बन्ध मे, मुझे क्षमा किया जाय, यदि मैं कहूँ, हिन्दी आलोचको का वैज्ञानिक अध्ययन और दृष्टिकोण अभी कुछ अपवाद छोडकर परिपक्व नही है । फिर बौद्धिकता का यह सरञ्जाम, उनमे व्याप्त रसग्राहकता के लिए पोषक सिद्ध होने की अपेक्षा बाधक भी सिद्ध हो सकता हे । परिणामत एक उथली, गड्ड-मड्ड, थोडे से आधुनिक वैज्ञानिक शब्द प्रयुक्त करने वाली दिशाहीन ही समीक्षा दिखाई देने लगती है । 'दृष्टिकोण' नाम से हिन्दी में तीन महानुभावो की पुस्तकें पढ़ जाने से यही मत निश्चय होगा ।

२

तो हिन्दी आलोचना का वर्तमान स्तर, मेरे मत में असतोषप्रद है । परन्तु यह कहना तो काफी नही हुआ । यह पुन एक अ-रचनात्मक दलील ही हुई । तो इस स्थिति के सुधार का क्या उपाय हे ?

मै समझता हूँ सबसे पहला दायित्व हमारे साहित्य के शिक्षको-अध्यापको पर है । मै यह आशा नही करता कि हर अध्यापक नवीन से नवीन दार्शनिक मनो-वैज्ञानिक-समाज शास्त्री सिद्धान्तो की जानकारी रख ही लेगा । परन्तु उच्च स्तर पर हिन्दी और अन्य भारतीय प्रान्तीय भाषाओ में जो एक अन्ध प्रान्ताभिमान या भाषा-भिमान से प्रेरित हो हम डाक्टरेट की डिग्रियां अन्धे की रेवडियो की तरह बाँटने लगे है, उन पर तो कोई नियन्त्रण (नैतिक नियन्त्रण) हो सकता है । कई पी-एच डी प्राप्तो के प्रकाशित-अप्रकाशित थीसिस मेरे पढने में आये है । और मेरा

मै आये दिन हिन्दी के तरुण नये लेखको, युवको, विद्यार्थियो, जाने-माने आलोचको, अध्यापको से मिलता हूँ और मुझे स्थिति बहुत भयावह जान पडती है। क्योंकि अध्ययन, साधना, परिश्रम और उदार दृष्टि का मुझे बहुत अभाव चारो ओर जान पडता है। सकीर्णता बढती जा रही है, यहाँ तक कि 'प्रगति' के पोषको में भी 'अ-गति' उत्पन्न हो गई है। रचना क्षीण होती जा रही है, गुण-दोष-विवेचन 'दोषेक दृष्टि' का प्राधान्य है। और यो हिन्दी समीक्षा क्षेत्र काफी हलके उथले सतह के विवादो में पड गया है। मूल वस्तु है साहित्य की सरिता का प्रवाह, वह जसे शुष्क शब्द-जञ्जाल की सिकता में सूख रहा है। मै साहित्य का एक अदना प्रेमी हूँ, पन्द्रह बीस साल से कुछ कागज रग रहा हूँ। परन्तु मेरा मन इस समय हिन्दी-आलोचना की स्थिति पर जितना खिन्न है, उतना पहले कभी नही था—क्योकि मार्ग कही दिखाई नहीं देता। सही, स्वस्थ मूल्यॉकन का अभाव है। साहित्यिको के जैसे मठ बन गये है, अपनी-अपनी महत्ती पुजवाने में रथी-महारथी व्यस्त है। कुछ उन्हे मारने-काटने-गिराने मे शक्ति का अपव्यय कर रहे है। और तरुण साहित्य-सेवी के हृदय पर कोई अच्छी तस्वीर नही खिच पाती।

कोई यह कहेगा कि यह तो घोर सास्कृतिक सङ्कट (क्राइसिस) का काल है। और जो जीवन की अन्य दिशाओ म प्रतिफलित हो रहा है, साहित्य उससे अछूता नही है। परन्तु आपको याद होगा, ग्यारह वर्ष पूर्व जब आगरे से आप 'साधना' मासिक निकालते थे, तब मैने 'साहित्य-प्रवाह' नाम से एक नियमित स्तम्भ 'विद्यार्थी' उपनाम से लिखा था, तब मेरे मन में इतनी खिन्नता और निराशा नहीं थी। 'लिखूँ तो किसलिए ?' लेख में मैने बहुत सी सख्त सुस्त बातें उस वक्त जोश मे कही थीं—पर फिर भी जैसे साधना पर विश्वास अटूट था, कोई आशा थी। अब कुछ 'सशयात्मा'-सी स्थिति मे पडा हूँ। और गत दो ढाई वर्षों में अपने मानसिक स्वास्थ्य को सन्तुलित रखने में अपने आपको असमर्थ पा रहा हूँ, सृजन के क्षण जैसे किसी उत्तप्त लू में झुलस गये है। मतवादो के घूर्णायित वात्याचक्र चारो ओर है, परन्तु प्रतिभा के अकुर का सौहार्दपूर्ण सिचन जसे शेष हो गया है। हल्ला-गुल्ला साहित्य-क्षेत्र में बहुत है, भीड-भडक्का भी है, पर सब मिलाकर परिणाम बहुत थोडा निकल पा रहा है। 'मच क्राइ, लिटिल वूल !'

ऐसा क्यो है, इस पर और भी आलोचक विचार करें तो अच्छा हो। मेरे मत से आलोचक अपने कर्तव्य से चूक गये है। और आलोचना अधिक विधायक और रचनात्मक हो तभी कुछ आशा है।

द्वितीय भाग

आधुनिक कविता

१

मर्मी कवियों की विरह-व्यंजना

१

प्रस्तुत लख म मै अग्रेजी, मराठी तथा हिन्दी के कुछ मर्मा अथवा रहस्यवादी (मिस्टिक) कवियो की आर्त्त विरह-वर्णन के नमूने प्रस्तुत करना चाहता हूँ। अन्त में फ्रॉयड की वह मान्यता कि प्रत्येक व्यक्ति म एक प्रकार की अपूर्ति अथवा अतृप्ति उपस्थित रहती है, जिसे वह कल्पना या स्वप्न द्वारा पूर लेता है, उसी के विराट् रूप में ये सब मर्मियो की उक्तियाँ है—यह सिद्ध करने का मै प्रयत्न करूँगा। बृहदारण्यक १।४।१-३ का आधार फ्रॉयड ने अपनी पुस्तक 'सदसद से परे' के आरम्भ में दिया है। वह अश है—

आत्मै वेदमग्र आसीत पुरुप विध

स वै नैवरेमे तस्मादेकाकी न रमते।

स द्वितीयामैच्छत।

स हेतावानास यथा स्त्रीपुमासौ सपरिष्वक्तौ।

स इममे वात्मान द्वेधा पातयत्तत पतिश्च पत्नीचा भवता तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति।

सूफी जामी की उक्ति भी बडी मार्मिक है—"जो एक नही हुआ है, वही दुई के कारण से दु ख पा रहा है।" एक से दो बनना दु ख का कारण है। विरह भी इकाई में सम्भव नही। दार्शनिक जिसे द्वैतवाद की समस्या मानते ह, उसी पर काव्यात्मक दृष्टि से प्रस्तुत निबन्ध में विचार है।

२

मै अग्रेजी कविता से शुरू करता हूँ।

अग्रेजी में सत्रहवी सदी में कई अध्यात्मप्रधान कवि हुए है, जिनमे जौन डोन, कैरिड, एर्कालग, क्रैशॉ, लवलेस, वॉधॉन, एड्रयू मार्वेल आदि प्रधान है। इन अध्यात्मिक कवियो के सम्बन्ध में ग्रीयर्सन अपनी विद्वत्तापूर्ण भूमिका मे कहते है—"सत्रहवी सदी के इन मर्मियों ने दो चीजो को मिला दिया—जो दोनो चीजे जल्दी ही नष्ट हो गईं—मध्ययुगीन प्रेम कविता की कल्पना-प्रधान द्वद्वात्मकता और पोराणिक कथाओ का सरल, ऐद्रेयिक स्वर। इस प्रकार आत्मा और शरीर को कविता देवी के रथ से जोड दिया गया, जो खुशी खुशी दौडे और उडे भी। (यूनानियो में विश्वास है कि

पैगेसस नामक सपख अश्व पर काव्य-प्रतिभा चलती है।) आधुनिक प्रेम-कविता ने वे दोनो गुण छोडकर हलकी भावुकता म अपने आपको खो दिया है।" ('मेटाफिजिकल लिरिक्स एड पोएम्स'—ऑक्सफोर्ड प्रकाशन)

एड्रयू मार्वेल की यह उक्ति देखिये—"जैसे तिरछी रेखाएँ है, वे प्रत्येक कोण मे एक दूसरे से मिलती हैं, टेढ़े प्रेम की भी वही स्थिति है।

"किन्तु हमारा प्रेम इतना समानान्तर है कि वह असीम होकर भी कभी नही मिल सकता।"

अथवा एक अन्य कविता में—"कब्र बहुत बढ़िया और एकान्त स्थान है, परन्तु वहाँ मै समझता हूँ, कोई भी आलिगन नही करता।"

मार्वेल ने आत्मा और शरीर के बीच में एक सवाद लिखा है जिसमें आत्मा कहती है—

"किस जादू ने मुझे बाँध रखा है कि मै दूसरे के दुःख से दुखी होऊँ!

"जब कोई भी हिकायत वह करता है तो मै ऐसा अनुभव करती हूँ कि मानो मैं अनुभव ही नही करती दुःख का।"

अग्रेजी की इस आध्यात्मिक विशेषणयुक्त कवि-परपरा मे जौन-डौन अपना विशेष स्थान रखते है। वह अनेक विरोधाभासों से युक्त एक विचित्र व्यक्ति थे। उनकी विरह के सम्बन्ध में उक्तियाँ बहुत प्रख्यात है। उदाहरणार्थ, कुछ उपमाएँ देखिये—

हमारी दो आत्माएँ जो असल मे एक ही हैं,
विरह सह नही सकतो, किन्तु चूँकि मुझे जाना ही है,
वे आत्माएँ फैलती चली जायँगी
जैसे सोना कूट कूटकर कण-कण बनकर हवा मे उड जाता है।
अगर वे दो भी हो जायँ तो वे ऐसी दो होगी,
जैसे कम्पास के दोनो पैर अपनी अपनी जगह तने हुए दिखाई देते हैं,
तुम्हारी आत्मा, उस केन्द्र मे जमे हुए पैर की भाँति है, जो हिलता नही,
परन्तु अगर दूसरा पैर हिले घूमे तो वह भी घूमता है।

इस प्रकार की रचना बहुत स्थूल और वास्तव उपमाएँ लेकर चलती जान पड़ती है। परन्तु 'जैसे उडि जहाज कौ पछी, पुनि जहाज पै आवै' में भी क्या स्थूलता नही है?

जौन डौन ने आँसू की गोल बूँदो को लक्षित कर अन्यत्र कहा है—जैसे किसी गोले पर कुशल कारीगर दुनिया के भू खडो के मानचित्र बनाकर 'नही' में से 'है'-जैसी सृष्टि पैदा कर सकता है, उसी प्रकार तुम्हारे अश्रु-बिन्दु एक-एक जगत् हैं, जो मेरे आँसुओ में मिलकर एक प्रकार का प्रलय निर्मित करते है। इस बाढ़ में यह दुनिया,

यह आकाश और स्वर्ग सब बह जाते हैं। उर्दू कवि ने भी यही बात मार्मिकता से कही थी—'चश्मों से अब मैं अपने बैठा हूँ हाथ धोकर ?'

डौन अपने प्रेम के जन्म की बात कहता है कि मेरे प्रेम का जन्म असाधारण, विलक्षण और बहुत ऊँचा है। असम्भवता की चोटी पर निराशा की कुक्षि में मेरा प्रेम जन्मा। मृत्यु की याद तो डौन पग-पग पर करता है। वह कहता है—इस प्रकार वियोग में 'जाओ' कहकर और मृत्यु को और समीप बुलाकर तुमने मुझे दुबारा मार डाला।

जौन हॉकिन्स, उसी परम्परा के एक दूसरे कवि ने विरह का एक फायदा बतलाया है—"मैं एकांत में मस्तिष्क के ऐसे निभृत कोने में उस प्रिया को पकड़ सकता हूँ, आश्लेषण और चुम्बन दे सकता हूँ और इस प्रकार मैं उससे आनन्द प्राप्त कर सकता हूँ और घोर दुःख भी, एक साथ।"

टौमस कैरिउ अपने प्रेम की 'शाश्वती समा'-स्थिति-वर्णन करते हुए कहता है—"उस व्यक्ति को भला क्या प्रेमी कहा जाय जो विरह या प्रताडना के पश्चात् अपनी प्रेम की ज्वाला को जलाये न रख सके या जो आग लगे कागज का भभक उठे और बुझ जाय। सच्चे प्रेम की दिव्य ज्योति, जैसी मेरे हृदय में है, इस आत्मा के उड़ जाने के बाद—शरीर के अवसान पर भी बराबर जलती रहेगी—कभी नहीं कुम्हलायेगी। मेरे अस्थिपात्र की विभूति तक सदा के लिये जलती रहेगी।"

गहरी निराशा से स्टैनली अपनी 'तलाक' कविता में कहते हैं—"प्रेम उस चीज की क्यों आशा करे जिसे नियति ने मना कर दिया ? अब आसक्ति ने जिन दोनों को जोड़ा था, उन्हें नियति जब दो कर ही रही है, तब इतनी क्रूरता दिखा जितनी तू दिखा सके। मुझे मौत में ही सुख मिलेगा।" स्वर्गीय चित्तरंजन दास ने भी तो अपनी प्रेयसी के लिए कहा था—

> तोमार ओ प्रेम सखि शानित कृपाण।
> तोमार ओ प्रेम सखि मरण-समान॥

रवीन्द्रनाथ को 'भानुदास'-रूप में 'मरण, तुहुँ मम श्याम समान' दिखाई दिया। इसी से स्टैनली ने और एक कविता के अंत में कहा—"मेरी (कब्र की) मिट्टी पर आँसू बहाना और कहना कि यहाँ प्रेम और भाग्य दोनों का शहीद सो रहा है।"

विरही का समय भारी होता है। क्षण कल्प के समान बीतते हैं—यह न मेघदूत के यक्ष का ही अकेले का अनुभव है और न 'नवीन' के गीत 'क्या मर गये आज घडियाल बजानेवाले' के नायक का; हेनरी किंग भी यही कहता है—

"शोकाकुल के लिए समय भी कैसे अलस भाव से रेंगता है। मेरा काम अब

इतना ही रह गया है कि आहो में घुली आँसू की झडी में मै थकान भरे घटे गिना करू।"

वैसे तो अग्रेजी कविता का क्षेत्र विशाल है और बाइबिल के 'साम्स' से लगाकर आधुनिकतम कवियो तक विरहोद्‌गारो के अनेक उदाहरण दिये जा सकते है, परन्तु उन सबका विवेचन करने के लिए यहाँ स्थान नही।

सक्षेप मे, अग्रेजी और यूरोपीय धार्मिक कवियो का विरह-वर्णन काफी स्थूल और ऐंद्रेयिक वासनोद्दामता के सकेत लिये हुए और मृत्यु के प्रति प्रेम दरसाते हुए है।

३

हमारे यहाँ के सतो की साधना इससे भिन्न है। मराठी के सत-कवियो—ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम और उनके शिष्य निलोब्बा—के ही उदाहरण यहाँ देता हूँ। सत ज्ञानेश्वर लिखित 'ओवीचे अभग' 'विरहिण्या' प्रकरण का कुछ चुनी हुई उक्तियो का भावार्थ यो है—

मिलने गयी तो मै उसी की होकर रही। ऐसी ठगी गयी कि मुझे कुछ पता हा न चला।

लौटते वक्त जब आँखें पीछे मुडकर देखने लगी, तो न काली और न सांवली—कोई मूर्त्ति ही नही दिखाई दी।

अन्दर-बाहर कैसा एक ही रग भरा है कि जहाँ मै उसे गले भरकर मिलने गयी तो एकाकार हो गयी।

अब तो सँभाले नही सँभल पाती हूँ। माँ, तुझ से क्या कहूँ, पूरा जीवन ही मैने न्यौछावर कर दिया।

आशा का लालच गया तो उलटी भागती ही रही, निराशा को समय न लगते वह वाछित वस्तु मिल गयी।

• उस रूप ने मुझे खीच लिया। क्या कहूँ माँ, बुलाने जाती हूँ तो वह सब निर्गुण ही हो जाता है।

मेरा अपनत्व नही बच रहा। प्रपच (ससार) की कहानी ब्रह्ममय हो गयी।

• दूर देश में पडी हूँ। मन में सुधियाँ आती है। यह वियोग असह्य है, इससे जीव कष्ट मे है।

ज्ञानेश्वर की विरहिणी-सम्बन्धी एक और भी काव्यमय उक्ति ही देखिये—

आँगन में कमलिनी है, जलधर ऊपर झुक आया है। क्यारी सीचने पर सूख-सूख जाती है।

मोती-जैसा पानी नीले पात्र में बह रहा है। सगुण की पीर जो बह जगा गया है।

आँगन पर भी झुक आया, मोती बरसाये। वह दिन धन्य था! सोने का दिन था।

अरे चोर मधुकर, तूने कमल में अपना निवास किया है। मोती तो राजहंस ही चुगते हैं।

मैं अकेली राह देख रही हूँ, मुझे मदन जला रहा है। मेरी उम्र कम है, यह कहने की बात नही।

'अभी आता हूँ' कहकर गया। मगर फिर इतना वक्त क्यो लगाया। दुकूल मोतियो से भीग गया।

ज्ञानेश्वर तो १३३५ विक्रमी में हुए। परन्तु उनके समकालीन महानुभावीय पंथ के जानपद काव्य से अधिक सन्निकट वाले नरेन्द्र कवि की अभी अपूर्ण उपलब्ध 'रुक्मिणी-स्वयम्वर' नामक लम्बी कविता में विरह वर्णन का अंश देखिये। यद्यपि इसमें मर्मियोवाला रहस्यवाद का पर्याच्छादन नहीं है; फिर भी देवी-देवता की ओट म काफी यथार्थवादी वर्णन है। इस ग्रंथ का रचनाकाल महाराष्ट्र में प्रचलित शालिवाहन शाके १२०० से १२१३ के बीच माना जाता है। (विक्रम संवत् और शाके में १३५ वर्षों का अन्तर होता है, अर्थात् १३३५ विक्रमी)। उसमें रुक्मिणी की विरह-संपीडन यों वर्णित है—

सामने चाँदनी जब दृष्टिगोचर हुई, तब उससे लक्ष्मी को सूक्ष्म वेदना हुई।

कहने लगी—यह हमारे क्षीर सागर का बडवानल तो कहीं नहीं उलटा—सब जगह फैल गया।

क्या आश्चर्य है कि बिना बादल के आकाश में चाँद-रूपी गोल विद्युल्लता अखंड चमक रही है, जो देवता (स्वामी) के अभाव में मेरे शरीर पर अखंड गिर रही है।

अथवा वसंत ऋतु के समय, नये अनंग ने होली जलाई है, उसमें यह चाँदनी धुलेटी के रूप मे, सारे अंगो पर छा रही है।

पहले से ही विरह-ज्वर है। वहाँ चन्द्र-करो के झोके और मथ रहे है। तब बाँस के पोरो में सहज वाद्य बज उठे (इसमें क्या अचरज ?)।

और एक जगह नरेन्द्र उस अवस्था का वर्णन करते है, जब विरहिणी स्वयं अंग पुलको से डर जाती है। इसकी तुलना रीतिकालीन हिन्दी कवि या अतिशयोक्ति-प्रिय उर्दू कवियो से ही की जा सकती है—

वह कस्तूरी के कमरे में लौटी; कुंकुम के मंच पर चाँदनी के श्वेत-शीतल प्रकाश में वह (विरहिणी रुक्मिणी) सोयी।

बायाँ हाथ सिरहाने रखा; दाहिना हृदय पर, मानो हृदय में स्वामी को बाँध रखा—कहीं भाग न निकले।

इतने में, आम की मजरी तो नही है—ऐसा समझकर चौंकी। वह तो उसकी ही अपनी उँगली थी। रक्तोत्पलो से वह डर गयी, अरे, वह तो उसके ही कर कमल जो थे।

अपने ही नाद से शकित हुई, यह समझकर कि कही कोयल तो नही कूक रही है; फिर अपनी ही उसासो पर वितक करने लगी कि यह मलयानिल तो नही आ गया!

सुन्दरी ने जो 'सेला' पहना था, वह विरहाग्नि से ऊपर ही ऊपर जल गया, तपे हुए तेल पर पता फट जाता है।

नामदेव (१३२७ ई० से १४०७ विक्रम सवत्) ने विरहिणियो के वर्णन नहीं किये हैं, परन्तु मागियो की सी आत्मलाछना का भान उन्हे बहुत है। एक तो वे अपनी ओछी समझी जाने वाली जाति दर्जीगिरी का उल्लेख करते है और फिर कौटुम्बिक दु ख तथा उपेक्षा का भी वर्णन करते हैं—

[भावार्थ—लोहे का चाकू पारस से छू गया। अब उसे पुरानी कीमत पर नही माँगना चाहिये।]

वेश्या थी। वह पतिव्रता बन गयी। अब उससे पुरानी बात नही करनी चाहिये।

दासीपुत्र को राजपद मिल गया। अब पहले की उपमा नही देनी चाहिये।

विष्णुदास नामदेव 'विट्ठल' (विष्णु) में मिल गया। अब उसे दर्जी दर्जी कहकर पुकारना नही चाहिये।

पुत्र कलत्र-बन्धु आदि वज्रपाश में बँध गया। दु ख के पर्वत मुझ पर गिरे हैं। हे श्रीहरी, पाडुरग (विट्ठल का एक नाम) 'धाँय बचावौ!'

ये सब कुटुम्बी-मित्रादि मुझ से सुख की बातें नहीं करते। हे चक्रपाणि! मै परदेशी हो गया।

सबका दास्य किया। बडी आस और भरोसा था कि वे अपने होगे। मगर वे सब अपने ही हित (स्वाथ) का सेवन कर रहे है—न मेरी चिता करते हैं, न परलोक की।

अब तो सुख-दु ख दोनो हमें एक से हो गये हैं। मन को यही प्रतीति मिली है। अतर्बाह्य एक ही ब्रह्म व्याप्त है। द्वैत भावना सब निबट गयी।

नामदेव की इस प्रकार की आर्त्त आत्मस्वीकृति के पीछे उसके जीवन की जलती हुई उपरति की, पश्चात्ताप की कहानी है। नामदेव की शादी राजाई से हुई थी। शादी के बाद नामदेव बुरी सगत में फँसकर डाकू बन गया और राहगीरो को लूटता था। कई गरीब यात्रियो को मारा, भोले पथियो को लूटा। यह जब बहुत दिनो तक चला तब इन लोगो का बडा 'हल्ला' मचा और उन्हें पकड़ने के लिये वहाँ के अधिकारियो ने अपने 'राउत' (आजकल के पुलिस जैसे) भेजे। 'राउत' और नामदेव के गिरोह में लडाई हुई। कई 'राउत' मारे गये। परन्तु नामदेव का नियम था कि वह लूट-पाट करता तो जरूर था, मगर अपने बड़े घोड़े पर चढ़कर अथवा गाँव के नागनाथ के

दर्शन को अवश्य जाता। नित्य की भाँति इस 'राउत'-सग्राम के पश्चात् नामदेव नाग नाथ के देवालय में पहुँचा। ब्राह्मण आरती कर रहे थे। नैवेद्य की थाली सजी थी। उस समय एक गरीब शूद्र स्त्री वहाँ देवता के दर्शनो के लिए आई। नैवेद्य की थाली का अन्न देखकर उस स्त्री की गोद में जो बच्चा था, उसने 'मुझे वह अन्न दे' ऐसा हठ किया। बच्चे का यह व्यर्थ का हठ देखकर माँ ने उसे डाँट दिया, परन्तु वह नही माना। तब माँ ने उसे पीटना शुरू किया। बच्चा अन्न माँग रहा है और माँ उसे पीट रही है, यह देखकर नामदेव का हृदय उमड आया और उसने पूछा—"माँ, तू अपने बच्चे को क्यो मार रही है ?" उस गरीबिनी ने नामदेव को न पहचानते हुए हिचकियाँ भरते हुए उत्तर दिया—"न मारूँ तो क्या करूँ ? मै इसके लिये ऐसा अन्न कहाँ से लाऊँ ? मेरा धनी 'राउत' था, उसे नामा डाकू ने मार डाला। हाय भगवान्, अब मै अपने बच्चे की जिद कहाँ से पूरी करूँ ? इसे यदि मै अपनी हड्डियाँ पकाकर दे सकती तो अच्छा होता।" नामदेव यह सुनकर पछतावे से भर आया। वही उसके पास जो कुछ था, वह सब बाँट दिया। अपनी बडी घोडी भी दे डाली और हाथ मे एक छुरा लेकर वह देवता के बिलकुल पास पहुँच गया। शिवलिंग से बोला—अब मैं यह आघात सहन कर अपने आपको दडित कर लूँगा। और छुरा अपने सिर में मार लिया। खून का फव्वारा छूटा। उसकी धारा शिवलिंग का अभिषेक करने लगी। पुजारी दौडे आये। नामदेव के हाथो से शस्त्र छीन लिया। देवता ने उसे पढरपुर (महाराष्ट्र के वैष्णवो का प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान) जाने के लिए कहा। जख्म पट्टी से बाँधकर वह पढरी के विट्ठल के दर्शनार्थ चला। राह में भीमा नदी पूर पर थी। वही वह भजन करता हुआ सत्याग्रह करता बैठ गया। लोग जमा हो गये—सब उसे डाकू नामा, दर्जी नामा कहकर चिढाते। परन्तु वह भजन गाता ही रहा। भीड खतम हो गयी। उस समय के वे पद हैं, जो ऊपर दिये है।

'महाराष्ट्र-सारस्वत'-कार वि० ला० भावे ने नामदेव-चरित्र में नामदेव का एक भक्त और भगवान् की एक-रूपतावाला 'अभग' (छदविशेष) दिया है और उसी के नीचे पाद-टिप्पणी (फुटनोट) में 'मीरा की ब्रजभाषा का मीठा पद' भी दिया है। मैं दोनो नीचे दे रहा हूँ, क्योकि 'तुम और मैं' यह मर्मियो का प्रिय विषय है।

नामदेव—

तू आकाश मी भूमिका। तू लिंग मी शाळुंका।
तू समुद्र मी चद्रिका। स्वयें दोन्ही॥
तू वृदावन मी चिरी। तू तुलशी मी मजरी।
तू पावा मी मोहरी॥

तू चाद मो चादणी । तू नाग मी पद्मिणी ।
तू कृष्ण मो रुक्मिणी ॥
तू नदा मी नदी । तू तारु मी रागडो ।
तू धनुष्य मा भातडी ॥
नामा म्हणे पुरुषोत्तमा । स्वय जउलो तुझिया प्रमा ।
मो कुडी तू आत्मा । स्वये दान्ही ॥

मीरा—

जो तुम तोडो पिया । मै नहि तोडू ।
तोडूँ तोरा सग कृष्ण कौन दुजा जोडूँ ? ॥
तुम भये तरुवर, मै भयी पखिया ।
तुम भये सरोवर, मै भयी मछिया ॥
तुम भये गिरिवर, मै भई चारा ।
तुम भये चदा, हम भये चकोरा ॥
तुम भये मोती, हम भये धागा ।
तुम भये सोना, हम भये सोहागा ॥
बाई मीरा कहे प्रभु ब्रज के बासी ।
तुम मेरे ठाकुर, मै तेरी दासी ॥

और रैदास का—

प्रभुजी तुम चदन हम पानी ।
जाकी अँग-अँग बास समानी ॥
प्रभुजी तुम दीपक हम बाती ।
जाकी जोति जरै दिन राती ॥

इत्यादि पद तो बहुत प्रसिद्ध ही है ।

नामदेव के पश्चात् एकनाथ (१६०५ वि०–१६६६ वि०) आते है, जिनके 'अभगो' में भी विरहिणी का रूप काफी स्पष्ट है । वे कहते है—

युग-युग की पीडित यह विरहिणी है । यह ध्यानपूर्वक मन में चक्रपाणि का स्मरण नही करती, इसी से वियोग की यातना है । इतने मे सत सगति मिली । विरह गया, अपार सुख हुआ । जन्म-जन्म के आवागमन की डोर टूट गयी ।

और एक स्थल पर कहते है—

चातक की प्यास ही कितनी है ? लेकिन उसे तृप्त करने में पूरी क्षिति भी शात हो जाती है ।

गाय वत्स के लिए दूध देती है । मगर उसी में से घर-घर में दूध दही-मक्खन

भी पहुँच जाता है ।

मिठाई खाना बालक नही जानता । माता जबर्दस्ती मुँह में उसे ठूँसती है ।

एक जनार्दन कहते हैं । मेरा एक-पन कही कोई ले गया ।

जामी (सूफी फारसी कवि) के इसी एके और दुई के भाव को लेकर फारसी साहित्य के इतिहासकार ब्राउन ने ये दो पक्तियाँ अनुवाद के रूप म दी है—Whoso ever has not become ONE, always suffers with the pangs of separation

मराठी सतमालिका में, मर्मी कवियो में अतिम और महत्त्वपूर्ण कवि तुकाराम के कुछ छद देकर यह परिच्छेद समाप्त करता हूँ । तुकाराम की गाथा मे गोलणी (ग्वालिन, गोपियाँ) और 'विराण्या' (विरहिनियां) दो अलग अध्याय है । गोलणी में दो हिन्दी के छद भी है, जो इस प्रकार दिये है—

मै भुली घरजानी बाट । गोरस बेचन आये हाट ।।१।।
कान्हा रे मनमोहन लाल । सब ही विसरू देखे गोपाल ।।२।।
काहाँ पग डारू देख आनेरा । देख तो सब वोहिन घेरा ।।३।।
हुँ तो थकित भैर तुका । भागा रे सब मनका धोका ।।४।।

हरि विन रहिया न जाये जिहिरा ।
कबकी थाडी देख राहा ।।१।।
क्या मेरे लाल कवन चुकी भई ।
क्या मोहिपासिती बेर लगाई ।।२।।
कोई सखी हरि जावे बुलावन ।
बार हि डारूँ उरा पर तान ।।३।।
तुका प्रभु कब देखे पाऊँ ।
पासी आऊँ फेर न जाऊँ ।।४।।

ये विरहिणियाँ पर-पुरुष से रत होने के लिए बहुत व्याकुल होती रहती हैं । कहती है—"पर-पुरुष का सुख भोगना हो तो सिर काटकर हथेली पर रख लो । अपने ही हाथों से ससार (दाम्पत्य-जीवन) को आग लगा दो और पीछे मुडकर न देखो । जिस प्रकार दीपक पर पतग होता है, वैसे ढीठ बनो ।" (तु० की गाथा अभग १६७)

'विराण्या' अश मे तो काम और उसकी अतृप्ति के स्पष्ट उल्लेख है, राधा-कृष्ण सगुण-रूप है, तीन-तीन पक्ति की तुकाराम की ये कविताएँ अत्यन्त ही तेजोमय है—

पहले पति से काम पूर्ण नही होता था, इसलिए मुझे मजबूरन व्यभिचार का सहारा लेना पड़ा । मुझे वह रात-दिन पास चाहिए। एक क्षण न एक घड़ी उससे

अलग नही रह सकती । मेरी सुविधा पूर्ण करो । मै तो अनत से रत हो गयी—तुका कहता है ।

बात यह है कि यही मूल पद तुकाराम ने लिखा है, इसलिए श्रेष्ठ भक्ति साहित्य मे आ जाता है । टीकाकार उसके सैकडो आध्यात्मिक अर्थ भी निकाल लेंगे, मगर वही भाव यदि कोई आधुनिक कवि लिखेगा तो उसे 'अश्लीलता' और 'समाजद्रोह' और न जाने क्या क्या लाछनो से भूषित होना पडेगा । यहाँ तुकाराम या अन्य किसी सत की महत्ता कम करना मेरा उद्देश्य नही, केवल वस्तु स्थिति का वर्णन कर देना चाहता हूँ । मेरा आशय इतना ही है कि भक्ति आदि जितनी वायवी मानी जाती थी, वैसी निरींद्रिय न होकर, काफी मासल थी, कम-से-कम वैसे रूपक प्रतीक-सकेत बरतने में वह सकोच नही करती थी । वैरागी कवियो का यह हाल है, तो सगुण भक्ति-शाखा के शृगारी कवियो का तो कहना ही क्या !

४

हिन्दी सन्त कविता से विरह-वर्णन के अनन्त उदाहरण दिये जा सकते है, परन्तु चूँकि मेरा विषय क्षेत्र मर्मियो तक सीमित है, यानी निर्गुणिए सन्तो की बात मै अधिक करना चाहता हूँ—मै यहाँ विद्यापति या मीरा या सूर और अन्य अष्टछाप के कवियो की बात जान बूझकर छोड देना चाहता हूँ । निर्गुणियो में भी मै दादू और कबीर को ही ख़ास तौर पर लेना चाहता हूँ । दादू की विरहिणी आत्मा के उद्गार देखिये—

१

दे दरसन देखन तेरा, तो जिय जक पावै मेरा ।।
पिय तूँ मेरी बेदन जानै, हौ कहा दुराइँ छानै ।
मेरा तुम देखे मन मानै ।। १ ।।
पिय करक कलजे माही, सो क्यो ही निकसै नाही ।
पिय पकरि हमारी बाँही ।। २ ।।
पिय रोम-रोम दुख सालै, इन पीरूँ पिजर जालै ।
जिय जाता क्यूँही बालै ।। ३ ।।
पिय सेज अकेली मेरी, मुझ आरति मिलौ तेरी ।
धन दादू वारो फेरी ।। ४ ।।

२

आव सलौने देखन दे रे ।
बलि-बलि जाऊँ बलिहारी तेरे ।।
आव पिया तूँ सेज हमारी ।
निसदिन देखो बाट तुम्हारी ।।

३

आव पियारे पीत हमारे।
निसि दिन देखों पाँव निहारे ॥ टक ॥
सेज हमारी पीव सँवारी। दासि तुम्हारी सो धण वारी ॥
जे तुझ पाऊँ अगि लगाऊँ। क्यूँ समझाऊँ वारण जाऊँ ॥
पथ निहारू, बाट सँवारूँ। दादू तारूँ तनमन वारूँ ॥

ऐसे और भी अनेको उदाहरण दिये जा सकते है। मेरा निवेदन केवल इतना ही है कि ये सब सत या मर्मी या पहुँचे हुए ब्रह्मज्ञानी एक-से शृगार गर्भित रूपक या प्रतीक ही क्यो उपयोजित करते है ? वही सेज, वही अग मिलन, वही प्रेम-प्यासे, वही तृषा मिटना, वही विरह-ज्वाला, वही प्रिय के 'सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य' की कामना, वही छटपटाहट, वही प्रतीक्षा, वही अकेला-अकेलापन—सभी सतो की बानी में यह एक से वर्णन क्यो ? भाषा, प्रान्त, देश, काल-भेद से अपर यह प्रतीको की समानता क्या मेरी बात सिद्ध नही करती कि यह जो कुछ 'रहस्य'-वाद जैसा माना जाता है, वह वस्तुत भौतिकवाद का ही उल्टा रूप है, उससे छुटकारा पाने का प्रयत्न मात्र है। और कवि भी चूँकि अपनी भौतिक अनुभूतियो के घेरे से अपने भाव और विचार-जगत को अलग नही कर सकता, यह सब 'सूक्ष्म' के प्रति औत्सुक्य या आसक्ति, वस्तुत 'स्थूल' का ही तार्किकीकरण (Rationalization) है। स्थूल अभाव ही सूक्ष्म विरह बन बैठा है। हमारे पास इन मर्मियो के व्यक्तिगत जीवन (विशेषत दाम्पत्य-जीवन) के सम्बन्ध में पर्याप्त सशोधन योग्य सामग्री नही, अन्यथा मेरे कथन को और पुष्टि मिलती। आधुनिक रहस्यवादी सेज और शय्या का (शायद सभ्यतावश) कम प्रयोग करते है।

प० रामचन्द्र शुक्ल ने रहस्यवादियो की इस लाग-लपेट, प्रतीको का आश्रय लेकर बात करने के ढग को विदेशी प्रभाव कहकर टाल दिया है, जैसे—"भारतीय भक्तिकाव्य को 'रहस्यवाद' का आधार लेकर नही चलना पडा। यहाँ के भक्त अपने हृदय से उठ हुए सच्चे भाव, भगवान् की प्रत्यक्ष विभूति को बिना सकोच और भय के—बिना प्रतिबिबवाद आदि वेदान्त वादो का सहारा लिये—सीधे अर्पित करते रहे। मुसलमानी अमलदारी में रहस्यवाद को लेकर जो 'निर्गुण शक्ति' की बानी चली, वह बाहर से—अरब और फारस की ओर से—आई थी। वह देशी वेष में एक विदेशी वस्तु थी। इधर अग्रेजो के आने पर ईसाईयो के बीच जो ब्रह्म-समाज बगाल में स्थापित हुआ, उसमें भी 'पौत्तलिकता' का भय कुछ कम न रहा।" (चितामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ १३६-३७)। और इस विदेशी प्रभाव के प्रति उनका पूर्वग्रह या 'प्रिज्यूडिस' है ही—"फारस की शायरी भावपक्ष प्रधान है। उसमें

विभावपक्ष का विधान नही या नही के बरानर हुआ है वेदना की विवृति की चाल फारसी और उर्दू की शायरी म बहुत अधिक है। विभाव और भाव के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण न होने से—इस बात का ध्यान न होने से कि मन म लाये हुए रूप किस प्रकार रस मे सहायक या नाधक होते हैं—वेदना की विवृति कभी-कभी बडे वीभत्स दृश्य सामने लाती ह। अबले फूटना, मवाद बहना, कलेजा चीरना, खून के कतरे टपकना, कबाब की तरह इधर उधर भुनना—वेदना का इस प्रकार का ब्योरा शृगार का पोषक नही हो सकता।" (चितामणि, दूसरा भाग, पृ० ११०)। 'काव्य में रहस्यवाद' नामक विशाल निबध के १२२ पृष्ठो में केवल उपर्युक्त स्थल पर वेदना का उल्लेख है। मर्मी कवियो के इस पक्ष को जैसे वे भूल ही गये, जब कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्राचीन साहित्य का 'उच्च साहित्य' स्वभाव-निसृत अश्रुजल से कलकमोचन करते है और स्वाभाविक आनन्द से पुण्य का स्वागत करते हैं' यह हवाला देकर टाल्स्टाय के लोकादशवाद अथवा करुणामय मानवतावाद की आई० ए० रिचर्डस के सहारे उन्होने काफी खिल्ली उडाई है। खेद से कहना पडता है कि शुक्ल जी की तीनो बातें गलत है। प० हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' मे सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि निर्गुण-भक्ति-धारा केवल वदेशिक प्रभाव मात्र नही थी। उसके पहले, उसकी जड मे कुछ स्वदेशी सस्कार-बीज भी अवश्य थे। सूफी अभिमत ने सिचन का कार्यमात्र किया। फारसी-उर्दू कविता के सम्बन्ध में शुक्ल जी का दृष्टिकोण कैसे एकागी है, यह हम आगे सिद्ध करेंगे। और वेदनावाद या टालस्टायवाली मानवता का मजाक उडाकर और केवल करुणाजन्य क्रोध या 'प्रक्षोभ-रस' का उल्लेख कर शुक्ल जी ने रहस्यवादियो की, मर्मी कवियो की अकथनीय पीर या अनन्त वेदना के साथ पूरा न्याय नहीं किया है।

मगर इस अवान्तर प्रसग म हम कबीर को तो भूल ही गये। उनकी कविता वैसे रूखी मानी जाती है, परन्तु उसमें भी कई 'मॉसल' प्रतीको, उपमानो 'साध्यवसान रूपको' 'एँलेगोरी' की कमी नहीं है। कबीर के ये शब्द देखिये—

१

तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नही चैन, रात नही निंदिया,
तरफ-तरफ कै भोर किया॥
तनमन मोर रहा अस डोले,
सून सेज पर जनम छिया॥
नैन थकित भए पथ न सूझै,
साइँ बेदर्दी सुध न लिया॥

२

कैसे दिन कटि है जतन बताते जइयो।
अचरा फारि के कागद बनाइन,
अपनी सुरतिया हियरे लिखाये जइयो।

और ये दोहे—

सब रग ताँत रबाब तन, बिरह बजावे नित्त।
और न कोई सुनि सकै, कै साईं कै चित्त॥
बिरह बान जेहि लागिया औषध लगत न ताहि॥
सुसुकि-सुसुकि मरि-मरि जियै उठै कराहि कराहि॥

अब तक मैंने अंग्रेजी, मराठी और हिन्दी के कुछ निर्गुण सन्तों या 'मर्मियों' की विरह-कविता के उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जितना ही ऊँचा रहस्यवाद का तार छूने का प्रयत्न किया जाता है, उतनी गहरी मीड उसमें से ऐन्द्रेयिक प्रेमानुभूति की (स्पष्ट फ्रायडियन शब्दों में काम-वृत्ति की अतृप्ति लालसा की) निकलती रही है। यह बहुत पुराने जमाने से होता आ रहा है। मैंने आधुनिक तथाकथित रहस्यवादियों के उदाहरण जानबूझकर नहीं दिये, उनमें तो कृत्रिमता और आत्म-गोपन ही अधिक है। पुराने मर्मी अधिक प्रामाणिक थे। उनकी आत्म स्वीकृति की उक्तियों में इसीलिए अब भी ताजगी है।

५

सूफी कवि, मुस्लिम संत और उर्दू के कुछ रहस्यवादी कवियों का साक्ष्य प्रस्तुत करना चाहता हूँ। मर्मियों में पाई जानेवाली आत्म-निपीडक (मैसोकिष्ट) वृत्ति सूफियों में अत्यधिक प्रमाण में है। बारहवीं सदी का एक सूफी 'सनाई' कहता है—'खिरमने खुदरा बदस्ते खेरातन सोजेम मा' (हम अपने ही हाथों से अपने 'खिरमन' को—सचित शस्य को नष्ट कर डालते हैं) और वह अपनी आँखे फोड लेने की कहता है, प्रणय-मार्ग पर अपने पाँव तोड लेने को कहता है और मौत का आवाहन तो वह बच्चन के 'आओ, सो जाएँ, मर जाएँ', की भाँति हर घडी करता रहता है, 'अपने आपको सबसे पहले मिटा डाल,' 'यदि तू उस राज-राजेश्वर के दर्शनों की अभिलाषा रखता है तो उसके मन्दिर की धूल बन जा और उसके आन के माग में अपनी प्रतिष्ठा का छिडकाव कर दे, प्रेम की पीडा का अनुभव प्रेमियों को ही हो सकता है,' चलो इस प्रेमी को मार डालनेवाली प्रेमिका का शिकार बन्द पकड लें, और मृत्यु का सुखपूर्वक आवाहन करें। वह तो 'खयाले चेहरये गम्माजे रग' पर 'तौफ गह कुरबाँ कुनेम' अर्थात् सुन्दर मुख के ध्यान में सब कुछ कुर्बान करने को तैयार है। उसके ईश्वर का रूप भी किसी 'उर्वशी' से कम नहीं है। वह कहता है—

हे ईश्वर ! तेरा रूप दुनिया की हर चीज से बढ़कर है। वह अतुलनीय है। तेरा कमाल आफत और नुकसान से परे है, यानी शाश्वत है।

मेरी आँख की पुतली तेरे दर्शनों के लिए उत्सुक रहती है। मेरे प्रेम भरे रोगी प्राण तेरे प्राणों का एक अंश है।

आज मैं अधीर हूँ, एक नवीन प्रसन्नता मुझ में जागी है। सद्भाग्य ने मेरी आँखों के आगे तेरा जलवा प्रकट किया।

ऐ सुन्दर राग गानेवाली बुलबुल और द्रुतगामिनी कबक, तू प्रेम में शराबोर रह। प्रणय-मदिरा तेरे पंखों में सदैव उड़ने की शक्ति देती रहेगी।

तेरा गाना सुनकर जोहरा मोहित हो गया, तेरा जमाल (रूप) देखकर खुरशेद (सूर्य) भी लज्जित हो गया।

तेरा बेल बूटे से सुसज्जित शरीर दर्शनीय है, क्योंकि यह तेरा बना-सँवारा शरीर मुझे रोज नये ढंग से लुभाता है।

मैं अपने प्राणों को भी कृतज्ञतापूर्वक तुझ पर वार दूँ, क्योंकि तेरी मिलन की सुगन्ध ही दो सौ प्राणों के बराबर है।

और एक दो सूफी लीजिए—हाफिज (चौदहवीं सदी) और जामी (पन्द्रहवीं सदी) से कुछ उदाहरण अपने कथन की पुष्टि में दूँ, हाफिज के 'दीवान' से कुछ चुने हुए चित्र देखिये—

"वह मुश्की रंग की अलकें न मालूम किधर छिप गई है? हमारा दिल चुपचाप एक कोने में दुबका बैठा है—प्रियतमा की भौंहे कहाँ है?"

"आज माशूकों के जमाव में, सम्राट् एक ही है। मैंने उसी को पाने के लिए दोनों जहानों को मिटा डाला। दोनों जहानों का अन्त एक ही है।"

"तेरे काले अलकों के जाल में यह हृदय अपने आप ही जाकर फँस गया है। अपनी तिरछी चितवन से, अपने पैने कटाक्षों से, तू उसे मार डाल, यही उसका दण्ड है।"

"जिसने अपनी प्रियतमा का अंचल छोड़ दिया है, उसे स्वर्ग की अप्सराओं के ओठों से भी आनन्द प्राप्त न होगा।"

"अगर तेरा यार तुझ पर अत्याचार करे, वादाखिलाफी भी करे, तो किसी से शिकायत मत करना। उस यार ने तेरे भाग्य का निर्णय इसी प्रकार किया है। उसके अन्याय को ही न्याय समझना।"

"मैं उस दृष्टि की बलिहारी जाता हूँ, जिसने प्याले से लगे हुए ओठों को पहली रात का चाँद और साकी के मुख को चौदस का चाँद समझा।"

"हृदय उसके प्रेम का स्थान है; आँखें उसकी सूरत के आईने।"

"मैने दुनिया की सभी वस्तुओ से मुख मोड लिया है। अगर मेरे ध्यान में कोई वस्तु समाई हुई है, तो वह है मेरे यार का मुखडा।"

"प्रणय-मार्ग अनन्त है। उस मार्ग मे अपने आपको मिटा डालने के अतिरिक्त और कोई चारा नही।"

"तेरे मुख के प्रकाश से सभी निगाहे प्रकाशित हो रही है। तेरे मुख को बडे-बडे नजर लडाने वाले देखते है, और ऐसा कोई नही, जिसका दिल तेरे काले अलको मे न उलझा हो। मेरे ये चुगली खानेवाले आँसू क्यो न लाल रग के होकर निकलें ? दूसरो के रहस्य को खोलनेवाली सदा लज्जित होती ही है। ऐ मिठास के सोते, तेरे मीठे ओठो की स्पर्द्धा में सभी प्रकार की शक्करें पानी म डूब चुकी "

और 'जामी' का भी वही रग है।

"दिल का अस्तित्व प्रेमी की जलन में ही है। और प्राण का सिर प्रणयी के चरणो पर पडा हुआ है। जब तक दिल किसी के अधिकार में नही चला जाता, उसे प्रणय का अनुभव नही होता। और प्रणय की अनुभूति के बिना दिल का होना न होना बराबर है। ऐ प्रणयी ! तेरा काम सुन्दरियो ने बिगाड रखा है और उनके तीखे कटाक्षो का शिकार बनकर तुझे सहस्रो विपत्तियो का सामना करना पड रहा है।"

"तेरा साथी तेरे साथ बैठा हुआ स्वर में स्वर मिला रहा है और तू उसकी विरह-व्यथा में अपने-आपको घुलाये डालता है।"

"मैं अपने यार के साथ घूमता हुआ उपवन में पहुँचा और धोखे से एक दूसरे पुष्प की ओर देखने लगा। मेरी प्रियतमा ने ताने के साथ कहा—'तुझको अपने कार्य पर लज्जित होना चाहिए। मेरा कपोल तेरे सम्मुख है और इस पर भी तू दूसरे पुष्प पर नजर डालता है !'

"मैने अपने गुलाब-से मुखवाली प्रियतमा से कहा—'ऐ सुन्दरी ! तू मानिनी के समान अपना मुँह क्यो छिपाये रहती है ?' उसने मुस्कराकर जवाब दिया—'मैं सासारिक प्रेमिकाओ से भिन्न हूँ। मै पर्दे के भीतर साफ दिखलाई देती हूँ; परन्तु उसके बाहर छिपी रहती हूँ। सूर्य जब पूर्णत: प्रकाशित होता है, हम उसे देख नहीं सकते, परन्तु जब वह बादलो के अन्दर होता है—सरलता से देखा जा सकता है'।"

उमरख्य्याम की रुबाइयो में भी यही भाव है—"मै तेरी इच्छा पर निर्भर हूँ। प्यारे, तू मुझे अपने वियोग मे जितना तडपाना चाहे, तडपा। मैं एक अक्षर भी शिकायत में न कहूगा। जिस हृदय में प्रेम की लगन लग गई, न उसे स्वर्ग की इच्छा है, न नरक की चिन्ता। धम तथा उसके प्रतिकूल चलने में जरा-सा ही अतर है। कोई भी हृदय ऐसा नही, जो तेरे विरह से पीडित न हो सासारिक प्रणय

अधजली अग्नि के समान है, ईश्वर-प्रेम सदैव जलनेवाली अग्नि के समान तू मुझे इसबाह्य सौन्दर्य के विषय म पूछता है। यह जीवन एक नदी से उत्पन्न हुआ, फिर उसी मे जाकर विलम गया। लोग मुझे शराबी कहते है, निस्सन्देह मैं ऐसा हूँ। परन्तु मेरी बाह्य दशा पर अधिक ध्यान दो। म जितना ही अपने आपको मिटाता जा रहा हूँ, उतना ही मेरा जीवन बढता है। इस जीवन की तरफ से जितना ही सतर्क हो रहा हूँ, उतना ही उसम और फँसता जा रहा हूँ।" बारहवी सदी के उमर अल खैयामी की ये सूक्तिया, याद रहे, भौतिकवादी यूरोप में बहुत समादृत हुई। क्योकि उनमें जीवन की स्वच्छन्दता, प्रणय का अबाध निद्वन्द्वता तथा यौवन के अनन्त सौख्य पर आध्यात्मिक आवरण मात्र है।

६

अब मुस्लिम सन्तो और उर्दू के एक दो रहस्यवादी कवियो की बात करे।

१ एक बार अबुबकर सबली बहुत दिनो तक गायब रहे। बहुत खोजने पर भी उनका पता नही लगा। बहुत दिन बीत जाने पर एक दिन नपुसको की बस्ती से बाहर आते दिखाई दिये। लोगो ने पूछा—"महात्मा, इनके साथ रहना क्या आपको शोभा देता है ?"

सबली—"हाँ, वही मेरे लिए उचित स्थान था। इस दुनिया में जिस तरह नपुसक न स्त्री है न पुरुष, उसी तरह परमात्मा न स्त्री है न पुरुष।"

२ तपस्वी जुन्नून ने एक बार एक स्त्री से पूछा—"बहन, प्रेम की सीमा कहाँ तक है ?"

वह बोली—"भाई ! प्रेम-पात्र यदि असीम और अमाप हो तो फिर प्रेम की सीमा कैसी ?"

जुन्नून ने कहा—"कल रात मैंने एक सपना देखा। मैं नदी-तट पर गया हूँ। ज्यो ही मैं वजू करने के लिए पानी में उतरा, मेरी दृष्टि एक मकान की छत पर पडी। वहाँ एक अतीव सुन्दरी युवती खडी देखी। मैंने उससे पूछा—'हे सुन्दरी ! तू किसकी स्त्री है ?'

"युवती ने कहा—'जुन्नून, मैंने तुम्हे दूर से देखकर पागल समझा, नदी-तट पर आने पर ज्ञानी, वजू करने को उतरने पर ईश्वरदर्शी साधु, पर मालूम होता है, तुम न तो उन्मत्त हो, न ज्ञानी, न ईश्वरदर्शी साधु ही।'

"मैंने युवती से उसके कथन का स्पष्टीकरण पूछा तो बताया—'अगर तू ईश्वर के प्रेम म पागल होता तो वजू नही करता, ज्ञानी होता तो परायी स्त्री पर दृष्टि नही डालता, और ईश्वरदर्शी होता तो तेरी नजर और कही नही दौडती।'

इतना कहकर वह युवती गायब हो गई। मैंने उस युवती को देवदूती समझा।

मेरे मन की आग भभक उठी। ज्ञान-शून्य होकर मैं वहीं पानी में गिर रहा।"

मैं यहाँ इतना ही सुझाता हूँ कि यदि फ्रायड को इस स्वप्न का अर्थ करने को कहा होता तो वह क्या करता?

३ एक बार तपस्वी अबु हाफिज ने साधु शाहशुजा को इस भाव का पत्र लिखा—"बन्धु! अपनी इन्द्रियों की विषयवासना तथा अपने अपराधों को विचारकर—मैं तो निराश हो गया हूँ।" उत्तर में शाहशुजा ने लिखा—"इन्द्रियों के बारे में विचार करें तो सचमुच निराशा होती है। केवल ईश्वर की महानता ऐसी एक वस्तु है जिसका विचार कर मन आशान्वित होता है। मैं जिस समय इन्द्रियों का निग्रह करने में असमर्थ हो जाता हूँ तो परमेश्वर का स्मरण करता हूँ।"

४ और यह नीचे की कहानी तपस्वी मुहम्मदअली हकीम तरमीजी की है। आप निष्कर्ष स्वयं निकाल लें—

वे बहुत खूबसूरत थे। जवानी में एक धनवान सुन्दरी युवती कामवासना से उनके पास आई। उसने अपनी मंशा उन्हें कह सुनाई, पर उन्होंने उसे ऐसी बात के लिए साफ इनकार कर दिया। कुछ दिन बाद वे एक दिन बगीचे में बैठे थे। वही युवती सज धजकर वहाँ आई। मुहम्मदअली उसे देखते ही वहाँ से चल दिये। युवती ने उनके पीछे दौड़कर कहा—बिना किसी कसूर के मेरी जान क्यों ले रहे हो? उसके शब्दों को सुने बिना ही वे दीवार फाँदकर भाग गये। बुढ़ापा आने पर उन्होंने उस पुरानी बात को याद करके विचार किया कि मैं उस दिन उस जवान औरत की मंशा पूरी कर देता तो क्या हर्ज था? पीछे पश्चात्ताप करके प्रायश्चित्त कर लेता। ऐसा विचार मन में आते ही उनकी घृणा का पार न रहा और मन में उन्होंने कहा—अरे दुराचारी पापी मन! जवानी में जिस भाव को तू दबाये रहा, वही भाव इस बुढ़ापे में यों उठ रहा है। तू कितना दुष्ट है! इसी बात को लेकर वे तीन दिनों तक बिना खाये-पिये रोते रहे।

—मुस्लिम सन्तों के चरित्र पृ० २४

उर्दू के रहस्यवादी कवियों की चर्चा करें। यों तो सूफियानी उक्तियाँ थोड़ी-बहुत सभी उर्दू कवियों ने कही हैं। परन्तु आसी, ग़ालिब, इकबाल और जिगर में वे विशेष रूप से दिखाई देती हैं। 'मन को मन से तौलिये, दो मन कभी न होय' कहनेवाला आसी 'मैं अपख, पिय दूर' कहकर तिलमिलाता है। किस अकुलाहट के साथ उसने प्रेम का यह प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक सूत्र कहा होगा, जिसमें द्वन्द्वात्मकता भी है। प्रेम वह शक्ति है, जो स्व-केन्द्रित तथा सब-केन्द्रित रूपों में गत्यात्मिका है—

'इश्क कहता है आलम से जुदा हो जाओ।
हुस्न कहता है जहाँ जाओ नया आलम है।'

गालिब से मैं बहुत उदाहरण देना चाहता था। परन्तु यहाँ जब मैं यह लेख लिख रहा हूँ, उसका दीवान उपस्थित नही। स्मृति के सहारे, मुझे उसकी 'नुक्तची है गम दिल' वाली गजल याद आ रही है जिसमें वह कहता है कि 'आतिशे दिल वह है कि लगाये न लगे, बुझाये न बुझे, और 'दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना' में जहाँ काटो को देखकर अबलो से भरे पाँवो में पथ में चलने की हौस बढ़ता है, और इसी प्रेम की पीर को उन्होंने अनन्त वेदना के रहस्यवादी रूप में भी लपेटा है—

गुफ्तम् हदीस दोस्त बकुरआँ बराबरस्त।
नाजम बकुफ्र खुद कि बईमाँ बराबरस्त।
बाचारा गर मगोरा कि तीमार पेशकश।
ददस्त दर दिलम किब दरमाँ बराबरस्त॥

इस फारसी रुबाई में भी गालिब ने दोस्त (प्रिय आराध्य) की बातो को कुरान के बराबर बताया है। अपनी नास्तिकता को आस्तिकता के समकक्ष बिठलाया है और हृदय की पीडा का उपचार कह डाला है।

इकबाल एक सच्चे प्रेमी की भाँति निराशाओ और सकटो के बीच अपने प्रेम का सहारा पकडे चलते है और उन्हे उम्मीद है कि उनका प्रेम अतत सफल होगा। आध्यात्मिक साधना के पथ पर सच्चे प्रेम का महत्त्व वे समझने लग जाते है, वहाँ ज्ञान राह नही दिखा पाता, प्रेम ही अकेला मार्गदर्शक दीपक है, 'था यह भी नाज कैसा बेनियाज का। अहसास दे दिया मुझे अपने गदाज का।' यह भावना इकबाल मे तीव्रतर होती जाती है और वह प्रेम की चिनगारी जो उसके हृदय मे सुलग चुकी है, बढते बढ़ते ज्वाला का रूप ले लेती है। वह सत्य की झलक पाने लगता है—

जब से आबाद हुआ इश्क तेरे सीने में;
नये जौहर हुए पैदा मेरे आईने मे।

अन्तत: दैवी कृपा से उस प्रेमी को दैवी मिलन का अनुभूत आनन्द प्राप्त हो जाता है। वह अपनी सर्वश्रेष्ठ प्रिया के जा-ब-जा खडा हो जाता है, जिसे वह इतने दिनो तक खोजता था और एक स्वप्न में चलनेवाले की भाँति, अपने कैवल्यानद का धन्यता के परम भव्य अनुभव से आश्चर्य चकित हो जाता है। जब वह उस दैवी रूपसी को अपनी सोलहो कलाओ से पूर्ण देखता है, तो उसके लबो पर महामौन की मुहर छाप दी जाती है, उसकी जिह्वा अटकती है, और महान् अभिमान से उसका हृदय कह उठता है—

कशादह दस्त करम जब बेनियाज करे,
नयाजमद न क्यो माँगने पर नाज करे?

'असरारे-खुदी' की भूमिका में निकोल्सन को लिखे एक पत्र में भी यही बात व्यक्त है।

उसे सहसा अपनी प्रसुप्त शक्तियों का भान हो आता है और अपने आपको एक मर्त्य से अधिक न मानते हुए भी उसमें कुछ आ जाता है जिससे वह अकल्पनीय ऊँचाई पर पहुँच जाता है।

उनकी कोर्दोवा की मस्जिद में लिखी एक कविता है—'दुआ', जिसमें वे कहते हैं—"मेरा नीड किसी सासारिक श्रेष्ठ पुरुष या मत्री के दरवाजे पर नहीं मिलेगा। तू ही मेरा नीड और तू ही मेरी शाखा है। तेरे ही कारण मेरा गरेबाँ चमक रहा है। 'अल्ला-हु' (अकेला परमात्मा ही है, एकमेवाद्वितीयम्) की अग्नि तुम्हीं ने मेरे हृदय में जलायी। तू ही मेरे जीवन, करुणा, दुख-सुख, दर्द और हर्ष का स्रोत है। तू ही मेरा काम है, तू ही मेरा काम्य है।"

'जिगर' के भी कई उदाहरण दिये जा सकते थे, जिसमें वह 'मौत क्या है एक लफ्जे-बेमानी, जिसे मारा हयात ने मारा' कहता है या प्रेम की व्याख्या 'सिमटे तो दिले आशिक, फैले तो जमाना है' करता है। अपनी गज़लों में उसने प्रेयसी के मिलन की समानता कई जगह प्रतिपादित की है—

हमी पै इश्क की तोहमत लगायी जाती है।
मगर ये शर्म जो चेहरे पै छायी जाती है॥
बना बना के जो दुनिया मिटायी जाती है।
जरूर कोई कमी है जो पायी जाती है॥
नकाब दुआलम उठाई जाती है॥

उर्दू सूफियों का प्रभाव रवीन्द्रनाथ और अन्य बगाली कवियों पर जैसे पड़ा है, गुजराती कवियों पर भी वह कम नहीं है। कलापी' ने उसी 'पैन्थीस्टिक' (सर्वान्तर्यामी परमात्मा में विश्वास—'खल्विदम्ब्रह्म') झोंक में कहा है—

ज्या ज्या नजर मारी करे, यादी भरी त्या आपणी।
वादल उपर बादल तहाँ गैबी कचेरी आपणी॥ इत्यादि।

प्रेम को आग के समान मानकर प्रेमी के जलने का भी अनुभव कलापी ने कहा है—

काई मिठु मुख नकी हश, प्रेमी ने बाकवामा।
के कै तेथी वधु सुख हश, पेमी ने दाझवामा॥

—कलापी

'कलापी' से भी अधिक उसके शिष्य और 'केकारव' के सकलन और स्वय एक सन्त सागर महाराज के पद देखिये—

१ प्रीति थी छाती ठाई अगर ऊँडी घवाई भला
शो भाई ! गाई—जिगरनी ए तगाई !
अने फरजन्द माटे जिगर फाटे न फाटे छतॉ छोडू
उचाटे सनम की दिल दुहाई !
वधा पर पाख ह्हारो सनम रहे तो पसारी दिले
बस ए विचारी बन्यो माशूकशाही !

—सागर महाराज

२ शू आ कविता, गजल, बेनो रमुजी कोई छे किस्सो ?
हमारा आसुमा बोलो तमारो केटलो हिस्सो ?
३ मीरा तणु हृदय शु नही कृष्ण जाणे ?
फर्हादनु रुदन शुन शिरीन मापे ?
कोईक फिलसुफी विना मजनू रडे छे !
अएने शु भाप्य कशु ये भणतु पडे छे ?
म्हने रोतो जुवो ह्हो ये फिलसुफी न सुणावशो,
अने हू हू विचारू तो, खुलासो न करावशो।
४ सागर, पी लें ले शी शरम ? खिलती
जवानी की कसम !
५ छो होय जड या चेतना
दिल एक्या हो पूर फना,
तो खुद खुदानी कशी तमा ?
छु छे खुदा ? म्हारी सनम !
करू शु हु वेद पुराणने ?
शु तीर्थ, सध्या, स्नान छे ?
दिलबर जही दिल जान छ !
तूही तूही म्हारी सनम !
दुनियानी इज्जत आबरू
ऐनु शु प्हेरूं पायरूँ ?
सारी जहाँ न शू करू ?
तू रूबरू हो म्हारी सनम !

उसी प्रकार से अनन्तदास जी की भी यह उक्ति लीजिए—

रूपमा मोहक ने जणओते रुपाका रे

—अनन्तदास जी

गुजराती 'भक्तमाल' पुस्तक से ये लिये है, किसी साहित्य या शृगार रस की पुस्तक से नही।

इस प्रकार मैने अनेक काल-खडो के मर्मी कवियो की उक्तियाँ देकर यह बतलाया है कि उसके विरह वर्णन में, प्रेम की आर्त-पीडा की व्यजना में, यौन सकेतो की, शृगारी प्रतीको की पुनरावृत्ति प्रचुर मात्रा मे पाई जाती है। ऐसा क्यो है, इसकी विवेचना से पहले मुझे 'मर्मी' अथवा 'रहस्यवादी' तथा 'अश्लीलता' शब्द की व्याख्या कर देना उचित जान पडता है, जिससे मेरे आक्षेपको के तर्कों का प्रतिवाद भी कुछ अशो मे होगा। अत में, मैं फ्रायड का धर्म-सम्बन्धी मत देकर अपने निष्कर्षों पर आऊँगा।

७

जब मैंने इस लेख का पहला भाग (जो 'पारिजात' में प्रकाशित हुआ था) लिखा, तब अपने मित्र 'आत्मतत्वदर्शन' के लेखक तथा दर्शन-शास्त्र के काशी विश्व-विद्यालय के डाक्टर ना० वि० जोशी को दिखलाया। उनके आक्षेप निम्न थे—

१ आलोचना की यह पद्धति कि आलोच्य कवि की रचना को ही देखे, कवि का उल्लेख न लाये गलत है। एक ही भाव एक राह चलता 'लोफर' लिखेगा और ज्ञानेश्वर या कबीर व्यक्त करेंगे, तो अवश्य उसमें अन्तर करना ही होगा।

२ मर्मी या रहस्यवादी वह है जो अपने अहम् को मिटाकर, उसे लाँघकर सर्वव्यापी बनाता है। यौन-प्रश्नो में उलझनेवाला भोग विलासी स्वार्थी और स्वकेन्द्रित होता है।

३ अत इस लेख में लेखक की विकृत मनोवृत्ति व्यक्त होती है। सन्त-कवियो के अन्य श्रेष्ठतर काव्याङ्गो को छोडकर यही अश्लीलतासूचक वचन क्यो चुने गये? 'अज्ञेय' आदि आधुनिक वर्जनाओ के कवियो की विचारधारा का यह प्रतिफल है।

दुबारा नागपुर के प्रो० वनमाली तथा शरच्चन्द्र मुक्तिबोध के सामने इसी निबन्ध की चर्चा उठी, तब प्रो० वनमाली का मत इस प्रकार का था कि सन्त कवियो पर यौनवर्जनाओ का आरोप एक प्रकार का मूर्तिभजन है। यह काफी खतरनाक 'थीसिस' है। आपको उनमें अश्लीलता सिद्ध करने के पूर्व जैसे मार्क्सवादी मानते है, यह सिद्ध करना होगा कि उनका आविर्भाव काल ही ऐसा था, जिसमें पराक्रम को कहीं मार्ग नही मिलता था। गत्यवरोध था—अत उनके वचनो में, प्रतीको तथा उपमानो में यौन-सकेतो का आधिक्य आया। जैसे अठारहवी सदी का फ्रास का साहित्य। शरच्चन्द्र मुक्तिबोध के अनुसार सतकवियो पर निर्णय देते समय उनके काल, उनकी जीवनी तथा परिस्थितियो का तो विचार करना ही होगा—उससे निरपेक्ष उनकी कृतियो का स्वतन्त्र परीक्षण सम्भव नही। यद्यपि वे यह मानने को तैयार नहीं

थे कि चूँकि एक कवि सन्त है, अत उसे अलग पैमाने से नापें और अन्य आधुनिक शृंगारी कवि है तो उसे अ य पमाने से।

इस चर्चा के बाद दूसरे दिन एक और मित्र श्री राजेन्द्र सेठी मिले। उन्होंने मेरे मतो की पुष्टि की और बतलाया कि होली के गीत जो गाये जाते है, उसी पकार के 'मे डे' और फ्रास के कुछ वसतोत्सवो में गीत गाये जाते है—और समाज-शास्त्र के इतिहास में ऐसे 'सेफ्टी वाल्वज' समूहो ने प्रयुक्त किये है। अत सन्तो के उद गारो को अश्लील न कहते हुए उन्हे तान्त्रिको के 'जोगिडो' के समकक्ष मानना चाहिए। इस चर्चा से अश्लीलता का प्रश्न उपस्थित हुआ। सेठी जी के अनुसार शृंगार व्यजना सर्वत्र एक सी है।

कुछ अन्य मित्रो ने कहा कि यह तो निरा एक 'स्टट' है। लेखक की वृत्ति है कि वह कुछ न कुछ नयेपन के नाम पर चौका देनेवाला साहित्य लिखा करे। इसमें इतनी गभीरता से सोचने की कोई बात नही। क्योकि ऐन्द्रेयिक आनन्द और ब्रह्मानन्द सहोदर काव्यानन्द दो भिन्न कोटि की वस्तुएँ है, दोनो में गुणात्मक अन्तर है।

कुछ इसी प्रकार के आक्षेप 'पारिजात' सपादक ने अपने 'मई' अक के सम्पादकीय नोट मे उठाये है—(क) सतो की रचनाओ का अब तक ऊहापोह इस दृष्टि से नही हुआ, अत मेरे मन्तव्य विवादास्पद है। (ख) 'बोये पेड बबूल के आम कहाँ ते पायँ ?'—यदि सन्तो की विरह व्यजना के मूल मे अतृप्त काम होता, तो फिर इसका फल इतना सुन्दर या मधुर क्योकर हुआ है ? (ग) फ्रायड का उक्त सिद्धान्त स्वय विवाद से परे नही (स्वपक्ष दोषाच्च), (घ) सतो की अतृप्त इच्छाओ का मार्गान्तरीकरण हुआ है, अथवा शोध (Sublimation), यह स्पष्ट नही हुआ, (ङ) सिनमा के गीत आज प्रचलित है। चूकि उनमे अश्लीलता और कामोद्दीपन है। वे समाज के लिए हानिकर है। सन्तो के गीत जिस समाज परिस्थिति में छापे की सुविधा के बिना भी लोकप्रिय हुए, और उसका अनिष्ट परिणाम समाज पर नही पडा, अवश्य सिनेमा के गीतो से भिन्न कोटि के थे।

अब इन सब आक्षेपो का उत्तर, मै आगे रहस्यवाद तथा अश्लीलता की जो चर्चा करने जा रहा हूँ, उसमें से मिलता ही जायगा, परन्तु अन्तिम मेरे निष्कर्षों में और समारोप में मै इन सब आक्षेपो का सम्पूर्ण खण्डन उपस्थित करूँगा।

आइये, इसी से शुरू करें कि रहस्यवाद क्या है ? प० रामचन्द्र शुक्ल के काव्य में 'रहस्यवाद' की सतोषजनक परिभाषा नही मिलती। मै पाँच-छ बडे काव्यचितको के इस सम्बन्ध में मत देना चाहता हूँ। (अ) 'साधना' नामक अग्रेजी लेख-सग्रह में पृ० १४२ पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है—"रहस्यवाद की कविता को एक और

वास्तव के स्वप्न के प्रति स्वभावानुसार प्रतिक्रिया कह सकते है, दूसरी ओर भविष्य-वाणी।"[1]

(आ) एलबर्ट श्वाइट्ज़र ने 'भारतीय विचार और उसका विकास' नामक ग्रंथ में यह बतलाया है कि ब्राह्मणो का अथवा वैदिक रहस्यवाद नीति-अनीति से परे है; परन्तु वह नीत्शे या ग्नैस्टिको से भिन्न प्रकृति वाला है। वह काट के नैतिक तथा नीत्योपरि रहस्यवाद की भाति द्वद्वात्मक है उसमें विश्वात्मा तथा मानवात्मा को एक ओर तद्रूप, तदगभूत माना गया है, दूसरी ओर विश्वात्मा के सम्मुख मानवात्मा अपने अज्ञान का ध्यान करती है (स्पिनोजा के 'डाक्टा इग्नौरॉटिक' की भाँति)। रहस्यवाद का पहला रूप नीत्योपरि (नॉनएथिकल) है, तो दूसरा नीतिबद्ध या नैतिक। भारतीय रहस्यवाद में श्वाइट्ज़र के कथनानुसार जगज्जीवन-स्वीकार तथा जगज्जीवन-नकार या प्रवृत्ति और निवृत्ति का सघष है। एक ओर तो ज्ञान को, सासारिक अनुभवो को त्यागने का उपदेश होता है (मुसल्ला फोड, तसबीह तोड, किताबें डाल पानी मे—), दूसरी ओर विश्वात्मा को एक प्रकार की सृजनशील प्रवृत्ति माना है, जिसका निरूपण भगवद्गीता, फिख्टे और टैगोर में एक-सा मिलता है। '*सा तपस तपत्व सर्वम् असृजत यदिदभंकिच*' अर्थात् परमेश्वर ने यह सब कुछ जो है, वह अपने ताप (दुख) के उत्ताप से निर्मित किया। प्रश्न हो सकता है कि परमेश्वर को यह दुख हुआ क्यो? इस प्रकार चर्चा कर श्वाइट्ज़र भारतीय रहस्यवाद के कुछ प्रमुख सिद्धान्तो का सक्षेप में निरूपण करता है—(१) निवृत्ति, (२) कर्म से अकम की प्रधानता, (३) अनन्त आत्मा से सक्रिय सयोग, (४) आदिमाया या सृष्टि की एक अनबूझ पहेली है और (५) नीति-अनीति से परे रहने की आवश्यकता। श्वाइट्ज़र ने शका उपस्थित की कि ज्ञान तथा अनुभूति के क्षेत्र को छोडकर केवल कर्म या योग द्वारा ही अनन्त आत्मा से महामिलन कैसे सम्भव है?

(इ) टी० एच० ह्यू ने 'दी फिलोसोफिकल बेसिस ऑफ मिस्टीसिज्म' में प्रतिपादित किया है—"रहस्यवाद का अथ है प्रेम-मार्ग से परमात्म-प्राप्ति तथा उसके लिए आवश्यक सफल सेवा के आदर्श से प्रेरित किसी भी व्यक्ति का आत्म निरपेक्ष आग्रह।"

(ई) अब सबसे महत्त्वपूर्ण सम्मति है कुमारी एविलीन अडरहिल की जिसने रहस्यवाद पर एक स्वतन्त्र ग्रंथ ही लिखा है। रहस्यवाद तथा कला का सम्बन्ध बताते हुए यह कहती है—"बहुत थोडे लोग ऐसे है जो इस रहस्यानुभव की झलक अपन

---

१. The poetry of mysticism might be defined on the one hand as a temperamental reaction to the vision of reality, on the other as a form of a prophecy

जीवन में न पाते हों। जो पुरुष प्रेम का शिकार होता है और यह अनुबोध उसमें जागता है कि इस 'लड़की' नामक संज्ञा से अभिधेय व्यक्ति में एक अवर्णनीय, अनिर्वचनीय वास्तविकता निहित है, अथवा वह कवि जो प्रकृति में एक अननुभूत आभा के दर्शन करने लगता है, जो इस द्यावापृथ्वी पर अलौकिक रूप से फैली है, अथवा वह जो अरूप की चिंतना करता है और जो सहसा साक्षात्कार से हृदय-परिवर्तन अनुभव करता है, इन सबों ने एक क्षण के लिए क्यों न सही, इस जगद्रहस्य को जान लिया। कलाओं में यही 'इन्ट्यूशन' (प्रज्ञा) अभिव्यक्त है, ब्लेक कहता था, चित्रकला संगीत, काव्य सब इन्हीं अमर-भावों में रहते हैं और उन्हीं में रमते हैं। कला आभास और वास्तविकता के बीच की कड़ी है। रहस्यवाद इसी दृष्टि से कलाओं की कला है। प्रतीक वह आवरण है, जो आध्यात्मिक आशय व्यक्त करने के लिए भौतिक सतह से उधार लेना पड़ता है, एक कलाभिव्यंजना है। उसे अक्षरशः न लेते हुए, उसके व्यंग्य और व्यंग्य पर ध्यान देना चाहिए। इस कारण जो व्यक्ति यह समझते हैं कि सन्त कैथरिन या सन्त टेरेसा के 'आध्यात्मिक परिणय' के भीतर एक प्रकार की 'विकृत योनलालसा' विद्यमान है, या जो पवित्र हृदय के स्वप्न को इस प्रकार का असम्भव शारीरिक अनुभव मानते हैं या तो सूफियों के दैव नशे को निरा मतवालापन समझते हैं। वे कला के तन्त्र सम्बन्धी अपने अज्ञान का प्रदर्शन करते हैं।[1]

(उ) ए० सी० बोके के 'तुलनात्मक धर्म' में ग्यारहवाँ अध्याय 'रहस्यवाद' के सम्बन्ध में है, जिसमें ईसाई, मुस्लिम, हिन्दू, बौद्ध सभी रहस्यवादियों की निम्न प्रवृत्तियाँ प्रधान या सर्वसामान्य मानी गई हैं—

(१) सब विभेद या अलगाव झूठा है। संसार अभेदात्मक है।

(२) पाप झूठा है। पाप संसार के किसी अंशविशेष को स्वाधीन मान लेने के कारण है।

(३) काल भी झूठा है। सत्य या वास्तविकता शाश्वत है, वह कालातीत है। बोके प्लेटो और ऑगस्टाइन के रहस्यवाद को हिन्दू उपनिषदों से प्रभावित मानता है। प्रावलक 'स्यूडो डायोनिशियस' ग्रंथ का आधार ईसाई चिन्तकों के क्षेत्र से बाहर का है। उसमें 'सुषुप्ति' तक का उल्लेख है। गजाली ने इसी ग्रंथ के निम्न तत्त्वों को

---

१. Mysticism is not an opinion it is not a philosophy It is an art of establishing conscious relation with the Absolute It consists in—Not to *Know about,* but to be.

अपने आप मे मिला लिया है—(क) परमात्मा अकेला है। वही सब चीज़ो में है, सब चीजे उसी में ह। (ख) उसी से सब चीजें निकली है। उससे ऊपर उनका मूल्य नही। (ग) धममार्ग व्यर्थ है। वे सिर्फ पन्थ है। उनमे इस्लाम सबसे लाभदायक और उसमें सूफीमत सच्चा फिरसूक है। (घ) पाप पुण्य म कोई अन्तर नहीं, क्योकि परमात्मा ही सबका बनानेवाला है। (ङ) परमात्मा ही मनुष्य की इच्छा-शक्ति का प्रणेता है। अत मनुष्य अपने कर्मों म स्वतन्त्र नही। (च) आत्मा शरीर से पहले थी। शरीर पिजरा है, आत्मा उसमें तोते की तरह बद्ध है। मृत्यु काम्य है, इसी माग से पिजर द्वार खुल जाते है, सूफी की आत्मा अपने 'नशेमन' में लौट जाती ह। (छ) परमात्मा की दया के बिना कोई भी इस आध्यात्मिक महामिलन को प्राप्त नही कर सकता, हा, हार्दिक प्रार्थना से वह दया प्राप्त की जा सकती है। (ज) सूफी का प्रधान कत्तव्य ह इस परमात्म सयोग का चितन करना। परमात्मा के विभिन्न रूपो का ध्यान, नामो की स्मृति करना और 'तारिकत' (जीवन यात्रा) में उत्तरोत्तर बढना।

हमारे यहाँ तान्त्रिको ने भी यह जीवन-यात्रा पचमकार से विभूषित कर डाली थी। महानिर्वाण तन्त्र के दशम पटल में मैथुन के सम्बन्ध में कहा ह कि 'जो यह करता है, वह मै (शिव) ही हूँ।' ध्यान रहे शिव सदा-शिव है, अर्थात् हमेशा अच्छे, पाप-पुण्य से परे!

उपर्युक्त चर्चा से सिद्ध हो गया कि रहस्यवाद की एक निश्चित परिभाषा नही है। *सभी रहस्यवादी विचारधाराएँ स्थूल का आधार आवश्यक समझती है,* जैसे तैराक एक 'फुटबोड' का सहारा लेता है। चाहे बाद में वह स्थूल वे छोड दे, परन्तु उस प्रतीक-सकेत आदि रूपो में उसी की ओर बार-बार ध्यान जाता जरूर है। 'जलबीच' रहकर भी किनारे का ध्यान छूटता नही। रहस्यवादी की अवस्था एक प्रणयी के समान है—दोनो आर्त्त है, दोनो की 'शाश्वत टोह' चल रही है। कोई दिलवर को अपने अदर ढूढने में मग्न ह (नारसिसिज्म—स्वरत्यात्मकता), कोई दिलवर को पुरुष रूप मानकर 'हमारे राजा राम भरतार' का गान कर रहा है या सखी सम्प्रदाय की माधुरी भक्ति अपना रहा है, कोई सनम को माशूक मानकर स्वय मन्सूर और मजनू बन रहा है, कोई परमपिता परमात्मा या आदि-जननी के आगे 'हम बालक' कहकर 'यूडिपस कॉम्प्लेक्स' का शिकार बन रहा है। काम के विविध रूपो से भागने की, उसे अवरुद्ध करने की छटपटाहट सवत्र है, और जितना ही उसे निरुद्ध करने की कोशिश की जाती ह, उतना ही वह गहरा पैठता है। 'न प्रतीके न हि स' प्रतीक के बिना 'वह' नही।

अत यह सारा रहस्यवाद एक महान् आत्मप्रवचना का सामूहिक प्रयत्न है।

ऐगल्स ने 'एंटी डुहरिंग' म कहा है वैसे यह सब 'विराट् मूर्खता' है, क्योंकि जो भौतिकतावादी ह, वे मूलत. यही स्वीकार नहीं करते कि शरीर क पहले आत्मा थी, या शरीर पिजडा है और आत्मा पक्षी। 'एंटी डुहरिंग' म एगेल्स ने स्पष्ट लिखा है—"The unity of the universe dose not consist in its existence since it must first exist before it can be a unit." आधुनिक साम्यवादी कवि डब्ल्यू एच-आडेन ने इन 'शाश्वती समा' वादियो का सुन्दर मजाक उडाते हुए कहा ह—

> "When through exhausting hours
> they'd flown
> From the alone to the Alone
> Nothing remained but the
> dry-as-bone
> Night of the Soul!"

ऐसे भ्रामक और भ्रांतिपूर्ण स्वप्न परिपूर्तिवाले रहस्यवाद की अपेक्षा सीधा प्रवृत्तिवाद या यथार्थवाद क्या बुरा है ? वोल्तेयर की सार्मिक भाषा में कहने का मन होता है—"मेरे धर्म के मुखियो ने ठहराया है कि कोई धम नही है। ऐसे गलतियो के गले पडने की अपेक्षा प्रकृति के गले पडना बेहतर है !"

८

पहले रहस्यवाद की चर्चा म काम का वर्णन कर आये है। उसी में से आगे अश्लीलता का प्रश्न भी उद्भूत होता है। फ्रायड ने धम और कला दोनो को योन-प्रवृत्ति के स्थानान्तरीकरण का एकस्वरूप माना है। डा० ई० क्रेट्श्मेर अपनी 'शरीर और चरित्र' नामक मनोवैज्ञानिक मीमासा में पृष्ठ ३८४ पर कहते हैं कि 'श्रिजोफ्रेनिया और डेमेन्शिया प्रीकाक्स (मानसिक विकृतियो) के शरीर को यदि फिर औसत आदमी की हालत म सुधारकर लाना हो तो मँझली अवस्था मे वह एक अभिनेता या गायक होगा—आत्म प्रदर्शन की लालसा अभी इस अवस्था में भी उसे बहुत प्रोत्साहित करती है। वह एक भविष्यवादी चित्रकार, एक अभिव्यंजनावादी कवि, अथवा एक अध्यात्म-चिंता करने वाला रहस्यवादी भी बन सकता है।' मेरे कथन का यह अर्थ कदापि नही कि मैंने जो मर्मी या सत कवि ऊपर उद्धृत किये, वे सबके सब मानसिक रुग्णता से पीडित थे, परन्तु इतना अवश्य है कि फ्रायड की कलाकृति के निर्माण के पहले की मानसिक अवस्था का विश्लेषण यदि मान्य किया जाय तो उन-उन सन्तो अथवा पन्तो की उच्चकोटि की कलाकृतियो मे—विशेषतः विप्रलभ शृगार की व्यजनाओ मे—वर्जनाओ का, मानसिक सघर्षों का, अन्तर्द्वन्द्वो का अवश्य गहरा हाथ रहा होगा। 'चल चकई वा देश को जहाँ रैन कबी नहि होय'

कहने वाला कबीर या 'माधव अनरी-नारी, अगना अतरी हरी', कहकर रासक्रीडा वर्णन करने वाला गुजराती सतकवि भीम या मराठी हरिजन चोखोबाराय एक स्थान पर कहते है कि आखो का सुन्दर जिस दृष्टि से देखन गया तो आख ही उस सुन्दर के भीतर निकली। आँखो का सुन्दर आँखो मे देखा, तो वहाँ आप से-आप ही आँख भिप गयी। (चोखा कहता है कि बडा आश्चर्य हुआ कि सुन्दर जो देखने गया तो आँख ही विलम गई।) इन उक्तियो के पीछे किसी भी प्रकार की 'कशिश' वासना और प्रेम की रस्साकशी उपस्थित नही थी, यह कहना जान बूझकर सत्य को ढाँकने का यत्न करने के समान है।

'कवि तथा दिवास्वप्न' की चर्चा मे फ्रायड कवि की बच्चे के साथ तुलना करता है। दोनो एक प्रकार के घरौंदे की दुनिया मे विश्वास करते है। कवि एक अवास्तविक जगत की शरण लेता है जो कि शिशु क्रीडा का ही एक परिवर्द्धित रूपमात्र है। कवि और बच्चे, दोनो अपने अपने अवचेतन मन म गहरा रस लेते रहते है। आगे चलकर फ्रायड कलाकार, मानसिक रोगी तथा आदिम असभ्य मानवों की तुलना करके कहते है—"हमारी सभ्यता म अब केवल कला के क्षेत्र मे, भावो का सार्वदेशीय आधिपत्य प्रस्तुत है। कला में ही एक व्यक्ति अपनी काल्पनिक इच्छाओं से उत्प्रेरित होकर, उसी में तप-गल कर, कुछ ऐसी बात, निर्मित करता है जिससे उसकी इच्छाएँ परितृप्त होती है, और उसी कलात्मक आभास का परिणाम कुछ ऐसा होता है कि मानो वास्तविकता से कल्पना मे से यथार्थ जगता है। यह कला का जादू है। वह *'अभाव' मे से 'सत्' निर्मित कर देता है। इस प्रकार हिस्टीरिया कला सृष्टि का* व्यग-चित्र है तो Compulsion neuwrosis धर्म का, तथा 'Paranoiac delusion' दार्शनिक चिता का। यह सब मानसिक रुग्णताएँ इस अर्थ में असामाजिक होती है कि वे समाज में सामूहिक परिश्रम द्वारा जो बातें साध्य होती ह, उन्हे वैयक्तिक साधनो से प्राप्त करना चाहती हैं।"

फ्रायड जिसे यौन-वृत्ति का आत्यन्तिक निरोध तथा मार्गान्तरीकरण कहता है, उसी को युँग ने कहा है, परिणामो का एक साथ विस्फोट, जो कि कलाकारो में कलात्मक अभिव्यजना का स्रोत होता है।

फ्रायड के अनुसार धम का मूल असहिष्णुता है। ईसाई मत पेम का प्रचार करता है, परन्तु वह प्रेम एक प्रकार की नकारात्मक घृणा ही है। आज यदि यह असहिष्णुता धमयुद्धो के जमानो से कम दिखाई देती है तो वह इसलिए नही कि मनुष्य-स्वभाव बदलकर कोमलतर हो गया है, परन्तु इसलिए कि धर्म के मूल मे जो जीवनोत्प्लव-विषयक बधन थे वे शिथिल हो गये है। कल यदि धार्मिक 'लिबिडो' का स्थान समाजवादी 'लिबिडो' ने लिया, तो समाजवाद विरोधियो के साथ वही बर्बर

असहिष्णुता दिखाई जायगी। फ्रायड ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि प्रेम-भावना का जडीकरण यौन प्रवृत्ति की वर्जना से उत्पन्न होता है। यही जब सामूहिक रूप ग्रहण करते हैं तो, आदिम मानव का 'टोटमिज्म' (धार्मिक रूप से झाड फूँककर रोग से मुक्त करना आदि) कहा जा सकता है। अविकसित और अपरिपक्व प्रसुप्त इच्छाए एक ओर और दूसरी ओर अहम् म सम्मिलित प्रवृत्तियो के बीच जो सघष उत्पन्न होता है, उसी 'न्यूरोसिस', (मानसिक विजडीकरण) में से सेकडो आत्म अनात्म-सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं। धर्म भी उन्ही मे से एक है। एक स्थान पर फ्रायड ने स्पष्ट कहा है—

धर्म के मूल में एक प्रकार की मातृ-पितृ मूलक प्रेम की शिशु वृत्ति है। फ्रायड इस प्रेम को भी 'काम' के अतर्गत मानता है। आत्मा स्वय के सम्बन्ध में जो सोचती है और अपना आदर्श जो उसने कायम कर लिया है, उस उपरि अहम के और मौलिक अहम् के बीच सघर्ष होकर अपने आपको पराजित मानकर, अपनी व्यर्थता मानने लगती है। इसी भावना म धर्म का बीज निहित है। धर्म-नतिकता और सामाजिक भावना आरम्भ से एक ही है। एच० जी० वेल्स ने अपने विश्व-इतिहास मे लिखा है कि पाषाण युग के मनुष्यों की कृतियो म धार्मिक या रहस्यवादी प्रतीक नही पाये जाते।

मनुष्य के भावी जीवन मे स्वर्ग के उपहार की कामना एक प्रकार के स्वेच्छा से या बलात सासारिक सुखो के त्याग, वासना के निरोध के काल्पनिक, मानसिक प्रक्षेपणमात्र है। धर्मों ने वासनाओ का, सासारिक तृष्णाओ का सपूर्ण त्याग कभी नही किया—उलटे उन्हे आगामी जीवन के लिए सुरक्षित रखा—बीमे के विज्ञापनो की तरह (हत्या या प्राप्य से स्वर्ग) हम सन्त कवियो की कला कृतियो को भी इसी श्रेणी में ला सकते है। मित्रा ने अपने 'प्रीहिस्टॉरिक इण्डिया' म एक जगह कहा है कि 'कला सभ्यता से पूर्व की वृत्ति है। वह अनुकृति नही, न वह सीखा हुआ कौशल है। वह तो धर्म के समान ही प्राथमिक वृत्ति है। कदाचित् भाषा के समान। कला मानव जीवन के अस्तित्व के आरम्भ के साथ ही उपस्थित है। अब उस निरुद्ध काम को आप मार्गान्तरीकृत मानते हैं परिशोधित—सन्तो के उदाहरण यह सिर्फ शब्दो का हेर-फेर है। जेम्स बर्ग ने अपने 'समाज-शास्त्र' में कहा है —मूल प्रवृत्तियाँ निरुद्ध होती हैं, या उत्तोलित (सब्लिमेटेड) या उन्हे खुलकर खेलने का मौका दिया जाता है, यह बहुत कुछ उस व्यक्ति के कुटुम्ब जीवन, पारिवारिक परिस्थितियो और जिस काल मे वह हुआ है उसके सामाजिक सगठन पर निर्भर है।'

इस कारण हम समाज शास्त्रियो द्वारा दिये गये अश्लीलता के इतिहास पर एक दृष्टिपात करें।

६

कुछ लोगों को सर्वत्र अश्लीलता ही अश्लीलता नजर आती है। स्पष्ट है कि उनके मन ही विकृत हैं अथवा दुर्बल ! डाक्टर ब्लाक अपने 'सेक्सुअल लाइफ इन माडर्न टाइम्स' में कहता है कि 'कई लोगों के मन ही इतने पापी और विकृत हो जाते हैं कि जरा-जरा सी बातों से उनकी गर्दन नीची हो जाती है और वे 'शान्तं पापम्' कहकर चिल्लाने लगते हैं।" पारिजात-सम्पादक ने सन्तों के पद और आजकल के सिनेमा के गीतों की जो तुलना की है उनके मूल में एक भ्रान्ति है—आज की समाज रचना मध्ययुगीन समाज-रचना से भिन्न है (यद्यपि क्षुधा, काम आदि मानवी प्रवृत्तियाँ कम-ओ बेसी उसी रूप में विद्यमान हैं,) आज सस्ते अखबार, सस्ते चित्रपट, उपन्यास और ऐसे ही साधनों से अश्लीलता बहुजनसमाज तक पहुँच गई है। पहले वह सामन्तों की राजाश्रिता 'पतुरिया' थी—यानी केवल उच्चवर्ग के विलास के लिए सुरक्षिता। शराब, वेश्या और अश्लीलता की जो माँग बढ़ती जा रही है, उसके मूल में आज की समाज रचना है। यह यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं।

अश्लीलता यह रोग है, यह मानना एक ढोंग है। वह केवल एक रोग का लक्षण है। मनुष्य को सत्वशून्य कर डालने वाली यांत्रिक संस्कृति और पवित्रता की गम्भीर और मूर्खतापूर्ण कल्पनाओं का संयुक्त फल है—अश्लीलता। डी० एच० लॉरेन्स के उद्गार यथार्थ थे—'हममें की संवेदन-क्षमता मर चुकी है, सृजन-शक्ति पूर्ण नष्ट हो गई है। हम केवल भूसे के समान बचे हैं।

पूर्वकालीन अश्लीलता कुछ ढँकी हुई थी। आज वह बहुजनज्ञाता हो गई है। अश्लीलता का मूल हेतु है कामोद्दीपन तथा प्रत्यक्ष संभोग के अभाव की पूर्ति। शिव पार्वती, मदन-रति, राधा-कृष्ण की केलि-क्रीडा वर्णनों में कल्पना का सहारा अधिक लिया जाता था। आज वह आसमान से जमीन पर उतर आई है। आज के प्रगतिशील साहित्य में अधिक प्रामाणिकता से और यथार्थता से यौन-जीवन चित्रित है। उसमें अश्लीलता ने हाड-माँस ग्रहण कर लिया है। परन्तु श्रेष्ठ कलाकृतियों में व्यक्त होने वाला यौनाकर्षण और अश्लीलता में बहुत अन्तर है। अजन्ता की गुफाओं में गौतम बुद्ध की प्रतिमा की अपेक्षा उसकी उपासना करने वाली ललनाओं की सुडौल आकृतियाँ अंकित करने में कलाकारों ने अपनी प्रतिभा खर्च की है। इस कारण वे अश्लील नहीं हो जातीं। प्राचीन काल के जो कामशास्त्र पर ग्रन्थ हैं वे अवैज्ञानिक हो सकते हैं, परन्तु अश्लील नहीं हैं। शैव और यूनानी शिल्पकला के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। कला और नीति के गांधीवादी प्रहरी काका कालेलकर ने नग्नता के सम्बन्ध में अपनी पुस्तक 'कला—एक जीवन दर्शन, (पृष्ठ २६)—' में कहा है 'पुराने जमाने में हमारे तान्त्रिकों ने नग्नता की उपासना कुछ कम नहीं की और हमने उनके परिणाम भी देखे; लेकिन

नग्नता मे भी पूर्ण पवित्रता का दर्शन कराया जा सकता है। दक्षिण भारत मे भद्रबाहु, बाहुबली, गोमतेश्वर की नगी मूर्त्तियाँ है। ये इतनी बडी और विशाल है कि कई मील की दूरी से लोग इन्हे देख सकते है। पर इन मूर्त्तियो के चेहरो पर मूर्त्तिकारो ने ऐसा अद्भुत शान्ति भाव बरसाया है कि यह पवित्र नग्नता दर्शक को पवित्रता की ही दीक्षा देती है। पुरुष का शरीर हो या स्त्री का, पशु का हो या पक्षी का, इसमे बीभत्सता है ही नही। अश्लीलता शरीर के ऊपर नही, वह तो मन के भाव मे है। दिगम्बर चित्र को अश्लील या गन्दा बनाना या कला-पवित्र बनाना चित्रकार के हाथ म—मूर्त्तिकार के हाथ मे है। ' सस्कृत कामशास्त्र आदि मे प्रणयानुराधन की कलामात्र है। जिस काल मे ये रचनाएँ हुई, सामाजिक बन्धन कम थे और व्यक्तिस्वातन्त्र्य अधिक था। अत अश्लीलता का प्रश्न ही नही उठता था।

यूनानी कला के यौवनकाल म जो व्यक्तिस्वातन्त्र्य था, वह रोमनकाल मे कम होता गया। बन्धन बढे, उतना ही भोग-विलास भी बढा, बहिर्मुखता बढी। अश्लील पुस्तको की पोथ भी बढी—ओविड, प्लिनी आदि के ग्रन्थो म अश्लीलता बहने लगी। उनके बहुत से ग्रन्थ आज नही मिलते, क्योकि उस समय पुस्तको की नकल करने का काम पादरियो का था और किसी की भी हिम्मत यह करने की न हुई होगी। यूरोप मे मध्ययुग मे अश्लीलता अवरुद्ध हुई थी, प्रणय-जीवन सुलभ न था और धर्मपीठो का शासन भी अत्यन्त कठोर था। तब अश्लीलता ने मच का और हास्य का मार्ग पकडा। रेम्ब्राण्ट, रूबेन्स आदि ने विकार और वासनाओ के चित्र खुले-आम रगे है—रेम्ब्रान्ट ने वृद्धालिगन का एक चित्र कोई भी छिपाव दुराव न रखते हुए खीचा है। इन चित्रो मे उत्कट वासना है, सौन्दर्य है—परन्तु उसमे गन्दा कुछ भी नहीं है। पन्द्रहवें लुई के शासनकाल मे फ्रास मे कला-साहित्य मे शृगार की जैसे बाढ आ गई। तत्पूर्व पवित्रता के निरोध की मानो यह प्रतिक्रिया थी अश्लीलता उस समय अपना नग्न नृत्य दिखाने लगी। जो लेखक या कलाकार उसको नही मानते थे, भूखो मरे। विख्यात चित्रकार बूशर ने लुई की रखैली मादाम ला पाँपादूर के निद्रालय मे इतने अश्लील भित्तिचित्र बनाये थे कि उसकी अगली पीढी ने उसका नाश किया। भद्रजन, विशेषत सामत-कालीन सरदार आदि शिष्टजनो की नित्यो-पयोगी व्यवहार की वस्तुओ पर भी अश्लीलता की मुहर जम गई। नस्य की डिब्बी पर 'समर प्रसग' के चित्र बडे मनोयोगपूर्वक चित्रित रहते, बग्गियो के दरवाजो के अन्दरूनी हिस्सों पर भी ऐसे ही प्रणयचित्र अकित रहते। मद्रास के देवालयो म विकृत मनोवृत्ति दर्शक कई आकृतियाँ है। सम्भव है कि विजयनगर साम्राज्य के उत्थानकाल मे किसी विलासी राजा के आदेश से यह कार्य हुआ हो।

तत्पश्चात् उन्नीसवी सदी मे जो अतिरजित अश्लीलता थी वह और लुई के

समय की अश्लीलता तथा आज की खुली अश्लीलता में मौलिक अन्तर है। प्रेम की भावना की अपेक्षा केवल रति-सुख की उत्कट लालसा, शारीरिक सुखोपभोग का आकर्षण अश्लीलता की नीव है। फ्रेंच राज्यक्रांति के बाद अमीर-उमरावो के विलासी जीवन का उपहास करने के लिए अश्लीलता का उपयोग किया गया। ज्यो ज्यो वर्ग-विग्रह की तीव्रता कम होती गई, अश्लीलता भी कुछ फीकी पडती गई। इग्लेंड मे विक्टोरिया रानी के राज्य-काल म अश्लीलता मध्यमवर्गीय बन गई। कलात्मकता और चतुरता का लोप होकर उसका स्थान आत्म सतोष और गन्दगी ने ले लिया, व्यावसायिक मनोवृत्ति बढी। सूचक चित्र साम्यान्यजनो के लिए, अत्यन्त उत्तान चित्र अमीरो के लिए, ऐसा विभाजन हो गया। ऊपर से सभ्य, परन्तु दीपक के पास रखने से अत्यन्त अश्लील नजर आने वाले चित्रो की इस काल में बिक्री बढी। भीरुता, अतिभावुकता, दिखावटी सभ्यता, अन्दर से लपटता का वह काल था। जेम्स जिलरे (१७५७ १८१५) ने अपने राजनैतिक व्यगचित्रो मे अश्लीलता का आधार लिया था, परन्तु उसमे कुछ बुद्धि की चमक भी थी—मगर टामस रोलडसन् (१७५६ १८२७) कुछ-न-कुछ विषय खोजकर पुष्ट उरोजो की स्त्रियो का चित्रण अपने व्यगचित्रो मे करता, आँब्रे बेर्डस्ली (१८१२ १८९५) ने तो हद ही कर दी। उस समय कामेच्छा का वर्णन पाशवी और विनाशक शक्ति के रूप मे किया जाता था। बेर्डस्ली ने सब बन्धनो को तोड-ताडकर स्वछन्द चित्रण शुरू किया। वाग्नेर के 'ट्रिस्टन' (काव्य-सगीत) में और शार्लट ब्रान्टे के 'जेन आयर' (उपन्यास) म अश्लीलता गृहस्थिन का पहिनावा पहिने आई, परन्तु उससे क्या होना है? नात्सी जर्मनी मे 'सन्तान-कामाय तथेति कामम्' का यथावत् परिपालन शुरू किया। स्त्रियो पर इस प्रकार का अत्याचार असहनीय जान पडता है, परन्तु फ्रास और अमेरिका के छिपे वेश्यालयो से यह खुला अनिबन्ध काम समाज-स्वास्थ्य की दृष्टि से क्या बुरा था?

जेम्स ईस्टवुड के 'पोर्नोग्राफी टुडे' (आज की अश्लीलता) नामक लेख से मैने ऊपर बहुत कुछ सहारा लिया है। भारत पर यह इतिहास ज्यो-का-त्यो लागू नही होता। परन्तु मध्ययुगीन निर्गुण सन्तो का आविर्भाव-काल तथा ईरान मे सूफियो का निर्माण-काल निश्चित कबील वाली स्थिति से सामन्ती स्थिति मे परिवर्तन का काल था। कवियो के और सामान्य जनो के जीवन भी पराक्रम के अभाव में भूले थे, गत्यवरोध था—जो कि इस प्रकार के यौन-सकेतो के आधिक्य को व्यक्त करती है। तत्पूर्व जो वेदान्त या रूखा दर्शन धर्म का गला घोट रहा था, उसकी प्रतिक्रिया भी अवश्यम्भावी थी। सन्तो के या मर्मियो के व्यक्तिगत यौन जीवन भी निवृत्ति पर अत्यधिक आग्रह रखने के कारण अतप्त, अपरिपूर्ण थे। उन सबका प्रतिबिम्ब उनकी रचनाओ मे हुआ है। उनमें काम से भागने का जितना ही यत्न है,

उतनी ही उसम इन्द्रियानुभूति की अज्ञात, अव्यक्त जकडन या पीछे खीचने वाली प्रवृत्ति है।

१०

अन्त म, मे अपने निष्कर्ष को प्रस्तुत करना चाहता हूँ। मैने 'मर्मी कवियो की विरह-व्यजना' के प्रसग म रहस्यवाद, कला तथा धर्म-सम्बन्धी फ्रायड के मत तथा अश्लीलता के इतिहास की चर्चा की। कुछ आक्षेपको के आक्षेप भी रखे, जो मेरी निम्न युक्तियो से स्वय खण्डित हो जायगे—

(१) मे मर्मी कवियो को साधारण मानव मानता हू। हमारे आपके समान ही वे हाड-माँस के जीव है। उनम भी काम वासनाएँ रही होगी।

(२) 'रहस्यवाद' यह एक मृग-मरीचिका की भाति शब्द होने से उन्हे रहस्यवादी धार्मिक सन्त कहलाने वालो को भी कलाकारो के समकक्ष रखता हूँ। जो अपने काल्पनिक जगत से स्वप्न-परिपूर्ति किया करते हे।

(३) मेरा यह विश्वास है कि उच्च कला उच्च वासना के बिना, उत्कट अनुभूति के बिना निर्मित नही होती। वह उत्कट अनुभूति कभी भी निरी मानसिक नही होती, उसम मन शरीर समूचे प्राण और व्यक्तित्व का योग होता है। सिनेमा के गीतो के पीछ टको की प्रेरणा होती है—वह अभिव्यक्ति की पीडा नहीं!

(४) चूकि मर्मी कवि ऊँचे कलाकार भी हे उनकी रचनाओ के पीछे भी वही उत्कट अभिव्यक्ति की पीडा रही है, इसी से उनकी रचनाए जनप्रिय हुई।

(५) यह पीडा जसे कुछ लोग मानते ह, केवल 'प्रज्ञा' या इन्टियूशन से नही पैदा होती। उसके पीछे अन्तर्संघर्ष आवश्यक है। प्रबल सामाजिक (या उसी के कारण वैयक्तिक) असन्तोष तथा उसमे से समाज को बदल डालने की भावना कला-सृजन के मूल में काम करती है।

(६) सन्तो के दर्शन मे समस्त कर्म ईश्वर-प्रेरित या नियति-आश्रित (डिटरमिनिस्टिक) है, सो यह पीडा एक व्यक्ति-मथन का रूप लेती है। जैसे पानी चारो ओर से टकराकर एक भँवर में पड जाय 'मेरा ही कुछ दोष रहा होगा'—'हौं पतितन को नायक', 'मो सम कौन कुटिल खल कामी ?'

(७) इस प्रकार के आत्म दोष दर्शन या स्वीकृति ने भी उच्चकोटि का साहित्य विश्व को दिया है (रूसो, वाइल्ड, टाल्स्टाय, गाधी)। सन्तो में भी वही आत्म निपीडक वृत्ति काम करती है।

(८) ये सब वृत्तियाँ यौन-वर्जनाओ, यौन-जीवन के असन्तुलन, अपरिपूर्त काम से उत्पन्न होती है। फ्रायड ने और धर्म और कला का मूल भी उसी प्रवृत्ति-निरोध को माना है। उस निरोध से मार्गान्तरीकरण होता है या उसका उत्तोलन

यह प्रश्न यहा विचारणीय नही, क्योकि यह परिणाम से जाँचा जायगा। वही कसौट वस्तुनिष्ठ है।'

(९) अत मर्मी कवियो म एक विलक्षण आत्म रति और तज्जन्य स्वय से भागने की वृत्ति दिखाई देती है। उनका विरह भी उसी आत्म-पूर्त्ति का एक विराट् प्रयत्न मात्र है। तब की जनता भी ऐसे विराट् समाधान की खोज में थी, अत वे कवि और उनकी उक्तियाँ जनप्रिय रही।

(१०) इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में न मर्मियो पर कोई आरोप है, न कोई निरा चमत्कारवाद। मेरा विश्वास ह कि कला कृति की वृत्ति की परख करते समय कलाकार का हम उतना ही निर्देश करे जितना आवश्यक है। सदभ से अधिक स्रष्टा का ध्यान हमें पूर्व ग्रहदूषित कर देता है।

से जिसे कि गाल्सवर्दी अपने 'कला पर कुछ बिखरे विचार' (Inn of Tranquility के Letters खण्ड) में पूर्णता के तीन मुख्याङ्ग लय छन्दस और साम्य (Harmony, Rhythm and Proportion) के नाम से पुकारता है, वंचित रह जायगी ? उल्टे वह तो उस सामंजस्य के साम्राज्य की एकछत्र सम्राज्ञी है। विक्टर ह्यूगो का एक छोटा-सा वाक्य है—'कला देश काल को अतिक्रान्त करके चलती है' (Art transcends the domain of space & time)। इस वाक्य में कविता के अन्तर्गत आने वाली व्यापक सहानुभूति के स्पष्ट दर्शन हो जाते हैं। मैथ्यू आर्नाल्ड के 'समीक्षा' शब्द के प्रयोग को इसी दृष्टि से समझना होगा।

जो केवल कलावादी हैं, वे इस पर एकदम कोलाहल कर उठेंगे। क्या कविता का भी कोई हेतु है ? क्या वह भी हेत्वालंबिनी है ? हेतुमय और हेतु-प्राण है ? इन लोगों की दृष्टि में मानव, जीवन और संसार सभी अतन्त्र, गत्यात्मक और लक्ष्यहीन हैं। परन्तु वैसे अन्तिम सत्य की दृष्टि से देखें तो प्रभु का प्रत्येक रज-कण सहेतुक है। अतएव कविता हेतु प्राण न होकर हेतु-प्रधान है। यह मान लेने पर, वह हेतु क्या है, यह जानना आवश्यक है।

मनुष्य चिर-अतृप्त है, चिर असमाधानी। उसके प्रश्न होते हैं, उसकी आकांक्षाएँ होती हैं, और वह निरन्तर उनके समाधान के प्रयत्न में संलग्न रहा करता है। वह सच्ची बात जानना चाहता है। वह चाहता है कि एक ऐसे स्थल पर पहुँच जाय कि निराशा, असमाधान, मृषा और सत्य-शून्य कुछ न रहे। यही सत्य की पिपासा मानवमात्र की अन्तरात्मा में रमी हुई है। इसी अन्तिम हेतु का, साध्य का, समाधान दुर्बल मनुष्य के वृत्तिगत साधनों से करना पड़ता है। मनुष्य के वृत्तिगत साधनों में सर्व प्रधान है उसकी सौन्दर्य-बोध की वृत्ति (इंस्टिंक्ट)। उसका समाधान वह एक स्थिर आधार खोजकर कर लेना चाहता है। जहाँ सुन्दर सत्यान्वेषण या सत्य-सौन्दर्यान्वेषण है वहीं कविता का उद्गम, अस्त, अभीष्ट, ईप्सित सब कुछ विद्यमान है। और यहीं मंगलमयता का, कल्याण का, 'शिवम्' का प्रश्न सम्मुख आता है। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ने अपने 'साहित्य में सौन्दर्य-बोध' नामक निबन्ध में स्पष्टतया यह प्रमाणित किया है कि जिस प्रकार सत्य सुन्दर से स्वतन्त्र अपना अस्तित्व नहीं रख सकता, वैसे ही मंगल (शिव) भी सत्य के ही अन्तर्गत आता है। मंगल और सत्य अविच्छिन्न हैं। और यही 'आनन्दमरूपममृतम्' का भेद जहाँ कवि जानने-पहचानने लगता है, वहीं वह केवल कलाविद् न रहकर मर्मी चिन्तक बन जाता है। कविता को केवल कला नहीं माना जा सकता। 'कला' से अधिक वह आत्माभिव्यक्ति है, वह व्यक्ति का वर्णहीन आत्मप्रकटीकरण है।

'रहस्यवाद' शब्द का अभिप्राय भी समझना होगा। 'रहस्य', जो गोपन, अज्ञात रहे, 'वाद' से आबद्ध कर सदियों ने इस शब्द पर अपना अर्थ गढ़ लिया है। अब उसका अर्थ रहस्योन्मुख, रहस्य-प्रधान तथा रहस्यमयी साहित्य-रचनाओं में ही सीमित रह गया है। प्राचीन काल में परमात्मा के साक्षात्कार आदि में विश्वास करने वाले ही नहीं, वरन् वैसी दिव्य अनुभूति में 'स्व' को तन्मय कर देने वाले कवि अथवा अकवि मर्मी रहस्यवादी (मिस्टिक्स) कहलाते थे। डार्विन, मार्क्स और फ्रायड की बीसवीं सदी में उस प्रकार का व्यक्तिनिष्ठ और असली रहस्यवाद तो कहाँ रहा ? वह आज साहित्य की भाषा के काले अक्षरों में ही बँधा-सा रह गया है।

इस प्रकार दार्शनिकों का जिस प्रकार शुद्ध रहस्यवाद है, वहाँ धर्म से अनुरंजित सेंट अगस्तीन, एकहार्ट, चैतन्य और मीरा का भी अपना रहस्यवाद है। आजकल मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से रहस्यवाद और दिव्य अनुभूति के क्षणों को विकृत मन का भास-स्वप्न भी माना जाता है। परन्तु उस दार्शनिक, धार्मिक या वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण उसका साहित्यिक मूल्य होगा। रवीन्द्रनाथ ने रहस्यवादी कविता को एक ओर तो सत्य के स्वरूप के लिए मानव स्वभाव की मानसिक प्रक्रिया माना है, तो दूसरी ओर उसे वे एक भविष्यवाणी भी मानकर चलते हैं। (The poetry of mysticism may be defined on the one hand as a temperamental reaction to the nature of truth, on the other hand it is a kind of prophecy —'Poet's Religion)

प्रो० रामकुमार वर्मा ने एवलिन अंडरहिल की परिभाषा कुछ परिवर्तित करके अपने 'कबीर का रहस्यवाद' के प्रारम्भ में जोड़ दी है, जिसमें जीवात्मा की सृष्टि और प्रकृति के भीतर रमे हुए अलौकिक स्वरूप, अज्ञात शक्ति तत्त्व के साथ निश्छल और एकान्त सम्बन्ध स्थापन करने की प्यास और उसकी उत्कटता के साथ में एकाकारिता की प्रत्यक्ष अनुभूति की ओर इंगित है।

रहस्यवाद की उत्पत्ति मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार तीन मूल वृत्तियों पर आधारित है—मनुष्य की समाधान पाने की चिरन्तर प्यास, मनुष्य का अज्ञात के प्रति स्वाभाविक कौतूहल-आकर्षण, मनुष्य के भीतर सदा जागरित रहने वाला भय। समस्त धर्म-भावना की उत्पत्ति भी इसी भय की वृत्ति में कुछ विद्वान् मानते हैं। परन्तु रहस्यवाद का वास्तविक आरम्भ तो प्रकृतिगत विराट् तत्त्वों को देखकर कुतूहल से आविष्ट हो जाने वाले आदिम सामगायक आर्यों में ही मिल जाता है। 'रसो वै स.' का अर्थ और क्या है ? रस जितना है वह 'वही' है, कविता जितनी है वह सब सत्यान्वेषी, रहस्यवादी वृत्ति को ही लेकर चलती है। वहाँ अंडरहिल ने अपने 'मिस्टिसिज्म' नामक ग्रंथ में रहस्यवाद और जादू और रहस्यवाद और भास स्वप्नों का जो नाता जोड़ा है

उस साक्षात्कार के प्रश्न को कैसे छोड़ दिया जा सकता है ? 'हद बेहद दोनो गया' तक तो कवि ठीक है, पर 'कविरा देखा नूर' की प्रत्यक्षानुभूति के विषय में विवाद खड़ा होता है। कुछ लोगों ने ऐसे सिद्धों को वाणी के लोक से परे, कविता और शब्द-सृष्टि से परे माना है। यही कवि उनका मर्मी बनने की एक सीढ़ी, एक श्रेणीमात्र मानी जाती है। रहस्यवादियों में पथोपपथ इसी सत्य के ग्रहण (रियलाइजेशन) में मंजिल दर मंजिल बढ़ने के विश्वास से उत्पन्न हुए।

तो अन्तिम अवस्था सारूप्य की, अनन्त शक्ति से जीवात्मा के एकाकार सम्बन्ध प्रस्थापन की, तो - ही। वहाँ कवि शुद्ध 'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या' को चरितार्थ करता हुआ वाणी के लोक से परे, 'सर्गुण निर्गुण ते परे रहा हमारा ध्यान' की प्रेरणा-चेतना प्राप्त करता है। ऐसे कवि अध्यात्मवादी होते हैं। वे कवि से अधिक दार्शनिक विचारक हैं। दूसरे वे हैं जो कल्पना-निर्मित आश्रय या आधार में अपनी संपूर्ण निष्ठा और श्रद्धा आरोपित कर 'मैं तो सांवरे के रंग राती' की अनुभूति में लीन हो जाते हैं। गौरांग महाप्रभु चैतन्य आकाश की श्यामलिमा देखकर 'यह तो मेरे प्यारे का रूप है' कह कर मूर्छित हो जाया करते थे। वे इसी कोटि में हैं। परन्तु सारूप्य की भावना में भक्ति के भीतर की श्रद्धा का स्थान जहाँ प्रेम ने ले लिया वहाँ मनुष्य के कायिक, वासनात्मक अस्तित्व ने भी अपना असर रहस्यवाद पर डाले बिना न छोड़ा। साकारोपासना का जो पतित स्वरूप नायिका-भेद के ग्रंथों में मिलता है, उसका बीज इसी वृत्ति में है। मूलतः यह प्रवृत्ति बहुत शुद्ध और अतिरेकमय तन्मयता लेकर चली थी। इसका जन्म फारस के सफेद ऊन पहनने वालों में हुआ। अत्तार, रूमी, जामी, मन्सूर, हाफ़िज़ उमरख़य्याम—सब इसी परम्परा के प्रेम रहस्यवादी थे। ब्राउन महोदय ने अपने फारसी साहित्य के इतिहास के दूसरे भाग में इस काव्यधारा के प्रेम तत्त्व ज्ञान पर मार्मिक प्रकाश डालते हुए हमारे यहाँ के अद्वैत से उसकी तुलना भी की है। प्रेम-रहस्यवादियों के आगे चलकर दो पथ हुए। एक तो वे जो प्रतीकात्मकता को लेकर ही चले जो सांकेतिक आधारों को ही सब कुछ मान बैठे वे संकेतवादी थे। अंडरहिल ने आध्यात्मिक विवाह, यात्रा तथा किमिया के संकेतों पर एक स्वतन्त्र अध्याय लिखकर तत्सु तत्सु आलोचना की है। परन्तु कुछ मर्मी यह संकेतों का अवगुंठन नहीं चाहते थे। वे सीधी-सी बात कटे कटाये ढंग से कहना ही अच्छा समझते थे, वे तत्त्ववादी थे। कबीर के 'नैहर में दाग लगाइ आई चुनरी लोग कहे बड़ी फुहरी' वाली बात इस धारा का अलक्षित प्रमाण लिए हुए है। इन सब कायिक अधिकता की प्रतिक्रिया में कुछ सात्विक वृत्ति के प्रकृति-पूजक भी खड़े हुए। वे प्रकृति-रहस्यवादी थे। वर्ड्सवर्थ या सुमित्रानन्दन पंत इसी कोटि के कवि हैं।

इस प्रकार कविता तथा रहस्यवाद दोनों के मूल में मनुष्य की एक ही सी वृत्ति

कार्यशील होती हुई पाई जाती है। लौकिक तथा अलौकिक, जड तथा चेतन, ऐसे जगत् के दोनो पक्षो में तारतम्य-प्रस्थापन की सदा की उलझन मनुष्य के जी म बसी है। उसी से चिंता और कविता दोनो का जन्म हुआ है। परन्तु यहा मनुष्य की क्रियाओ की मूलाधार मनोवैज्ञानिक सज्ञा त्रिधारा—ज्ञान, इच्छा तथा भावना—की दृष्टि से कविता और रहस्यवाद के गठबन्धन को समझना आवश्यक है।

रहस्यवाद जहाँ ज्ञानश्रित, शुष्क और भाव-शून्य है, वहाँ वह कविता का अभीष्ट अथवा प्रेयस भी नहीं। कविता या प्रेयस्-रहस्य को तो सदा ही 'तुम सत्य रहे चिर-सुन्दर मेरे इस मानव मन के' (प्रसाद) बनकर रहना होगा। दर्शन जहाँ से भावुकता अनुरञ्जित होती है वही कविता का रहस्यवाद उद्भूत होता है। इन दोनो, बुद्धि-पक्ष तथा भाव पक्ष, के भीतर की इच्छा-वृत्ति को भूलना उचित न होगा। कल्पना तो बुद्धि ही के अन्तगत आ जाती है। अत व्यक्ति के दृष्टिकोण से रहस्यवादी कविता जहाँ इच्छा से प्रभावित भाव-पक्ष की सबलता लेकर ही चलती है, वहाँ समष्टि की दृष्टि से उसके बुद्धि तत्त्व को भी उपेक्षित मानकर नही चला जा सकता। व्यक्ति को प्रेयस् जहाँ समष्टि के श्रेयस् से अपना तारतम्य जोड लेता है, रहस्यवादी कविता का साफल्य उसी में निहित है।

इस बाह्योपेक्षा-पूर्ण, अन्तर्विश्वासी, अन्त प्रधान कविता के द्वारा लौकिक जड जगत के बाह्याश्रित वस्तु और तथ्य को प्रधान मानकर चलने वाले विज्ञान और जड वाद के विरुद्ध आक्रमण प्रारम्भ होता है। मार्क्स की दृष्टि से धर्म चाहे अफयून ही हो, उसके बिना व्यक्ति जी नही सकता। पर प्रश्न केवल, धर्म का साहित्य क्षेत्र में कहाँ तक प्रवेश हो दर्शन का कविता पर कहाँ तक बोझ हो, यह है। सापेक्ष दृष्टि से इस प्रकार के प्रतिक्रियात्मक आक्रमण से लाभ और हानि दोनो ही हो सकते है। किबहुना एक ही वस्तु देश-काल के अन्तर से लाभ अथवा हानि बन जा सकती है। जहाँ इस प्रकार के काव्य से लोक पक्ष में चिंतनशीलता, स्वार्थ और ममत्व-जनित जड जर्जरता पर सतोष की एक मीठी-सी मुस्कराहट और शान्ति का आधिपत्य होगा, वही यह शान्ति का अतिरेक कही विरक्त शून्यवाद के समान देश को निराश, अश्रुप्रेमी और दु खवादी न बना डाले, यह डर भी सदैव लगा रहेगा। तो दर्शन और काव्य, धर्म और समाज के सम्बन्धो में परस्पर पूरकता अथवा अन्योन्याश्रितता को ही कसोटी माना जा सकता है। जहाँ तक दोनो वस्तुएँ एक-दूसरे की पोषक है, वहाँ तक सब कुछ इष्ट है। अनिष्ट की सम्भावना तो परस्पर-विद्वेष ही से होगी। पर 'मा विद्विषावहै' का पाठ, क्या कविता और क्या दर्शन, बहुत पहले पढ चुके है।

अब साहित्यान्तर्गत विविध वादो की दृष्टि से चर्चा की जाय। साहित्य में रहस्य-वाद के पर्याप्त रूप से सन्निकट माना जा सकने वाला वाद है आदर्शवाद (आइडिय-

लिज्म)। आदर्शन द जिस प्रकार एक रूढि सम्मत अथवा चिता-सम्मत आदर्श को अभीष्ट मानकर 'अलभ है इष्ट अत अनमोल, साधना ही जीवन का मोल' (पत) कहकर चलता है, उसी प्रकार मर्मी आत्मा भी अपने मनोलोक म एक आदर्श की सृष्टि अवश्य करती है। परन्तु आदर्शवादी जहाँ वास्तव जीवन से अपने आदर्शों को कही अलग ऊँचे जाकर बैठा देता ह, रहस्यवादी ठीक उसमे विपरीन 'वास्तव में रमी हुई वास्तविकता' को ही अपना अभीष्ट मानकर चलता हे। वह सत्य अभीष्ट उसे पूर्णतया 'आदर्श' बना देता है और वह बिम्ब-ग्रहण बहुत सरलता से करता ह। (इसी भाव का एक गीत ईरानी सूफी जामी का है)। आस्कर वाइल्ड ने इसलिए कला को 'आदर्श' न मान कर अवगुठनमात्र माना है (Art is not a mirror but it is a veil)

इस प्रकार रहस्यवादी आदर्श और यथार्थ के बीच में सन्धिकार के नाते उपस्थित होता है। इस कारण उसका वास्तव से भी पर्याप्तरूपेण घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु वह 'वाद' के दायरे से घिरा हुआ नही। रहस्यवादी का यथार्थवाद विवाद से परे आवश्यक भित्ति माध्यम या प्रतीक के रूप में विद्यमान हे। यूरोप म वास्तव-वाद का अतिरेक जिस प्रकार स्वाभाववादी (नेचुरलिस्ट) और नग्नवादियो (न्यूडि-स्ट्स) मे जाकर परिपक्व हुआ तथा जोला, बालजाक, बादलियर, मोपासाँ और कुप्रिन तक मे जिस वासनावाद के चिह्न स्पष्ट दिखाई देते है, उसी प्रकार से हम आदर्शवाद का अतिरेक रहस्यवाद को मान सकते है। स्वभाववाद से प्रेम रहस्यवाद का मलाधार के रूप मे इस कारण, बहुत-कुछ सामीप्य रहता हे, परन्तु जहाँ स्वभाववादियो के लिए वासना अन्तिम लक्ष्य हे, वहाँ रहस्यवादी उसे माध्यम मात्र से अधिक महत्व नही देना चाहते।

रहस्यवाद का रोमेंटिसिज्म से बहुत ही गहरा सम्बन्ध है। रहस्यवादी का मनोलोक मूर्त और अमूर्त, पूर्ण और अपूर्ण, ऐमे असख्य कल्पना-चित्रो से रगीन और गीतात्मक हो जाया करता हे। इस कारण इसे बुद्धि की प्रखर चपलता का भावना के हाथो अनुशासित होना ही कह सकगे। रोमेटिसिज्म मे मुख्यत लौकिक की उपेक्षा का भाव कार्यशील था, और वही रहस्यवादी का उद्देश्य भी है, परन्तु जहाँ रोमेटिक कवि जान बूझकर लौकिक को अतिरजित रूप में देखकर, या बुद्धिपुरस्सर उपेक्षा करके, चलता है, वहाँ रहस्यवादी कवि न कभी उपेक्षा ही करता है, न अतिरजन ही। वह लौकिक को अलौकिक द्वारा आविष्ट अवश्य देखता है, परन्तु उसने लौकिक को कभी भूल जाना भी नही सीखा। अन्त म कल्पनावाद के अतिरेक से प्रादुर्भूत यूरोप के वर्तमान समीक्षा क्षेत्र मे तथा कला क्षेत्र में मनमाना ताडव मचाने वाले 'अभिव्यजना-वाद' (एक्सप्रेशनलिज्म) तथा 'बिब-वाद' (इम्प्रेशनलिज्म) का भी रहस्यवाद

कविता से सम्बन्ध देखना उचित है। क्रोचे का अभिव्यजनावाद जहाँ तक बाह्याश्रित तथा 'आचार प्रधान मनोविज्ञान (बिहेवियरिज्म)' के समान केवल कायिक अभिव्यक्ति की बातें करता है, वहाँ तक मर्मियो से उसका कोई सम्बन्ध नही, पर जहाँ वह शुद्ध साक्षात्कार के क्षणो (मोमेंट्स आफ प्योर इंट्यूईशन) की चर्चा लेकर चला है, वहा वह रहस्यवाद की ही वस्तु है। बिबवाद की चर्चा तो रहस्यवादी के दिवा-स्वप्न वाले सकेतवाद मे आ ही चुकी।

रहस्यवाद और काव्य की इस मित्रता के विकास का इतिहास भी कम आकर्षक नही। अधिकतर धार्मिक सतो की वाणी से इसका मूलारम्भ होता है। पर ज्यो ज्यो मनुष्य विज्ञान और शास्त्रो मे बुद्धि की तेज छुरी से अधिक काम लेने लगा, त्यो त्यो भाव कल्पना मिश्रित रहस्य-स्वप्न के उसके गुण कम होते गये। जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है, रहस्यवाद ने उसे, शुद्धता, आत्मनिष्ठता, मार्मिक दृष्टि से प्रकृति की ओर देखना और सकेताश्रय प्रधानता, ये सब बातें विशेष रूप से दी है।

सेट अगस्टीन, एखार्ट आदि के ईसाई रहस्यवाद से बहुत पूर्व सुकरात और अफलातून मे यूनानी सस्कृति की मन और काया की सामजस्य भावना तथा सौन्दर्यो-पासक वृत्ति मिलती है। अग्रेजी कविता साहित्य में रोमैंटिक युग के पुनरुत्थान-काल में शेली, वर्ड्सवर्थ से ब्राउनिंग तक जहाँ रहस्यवाद की यह प्रवृत्ति स्पष्ट झलकती है, वहाँ कीट्स, ब्लेक, मेटरलिंक और इतर अत्याधुनिक पश्चिमी लेखको म भी यह वृत्ति प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से बहुत कार्यक्षम जान पडती है। अग्रेजी रहस्यवाद की विशेषता उसका उथलापन है। अग्रज हृदय कभी भी विशेष रूप से रहस्य-भाव-प्रवण न हो सका। हाँ वर्ड्सवर्थ और शेली का प्रकृति-रहस्यवाद अवश्य बहुत प्रभावशाली चीज रही।

पर इससे बहुत पहले फारस मे धर्म की कट्टरता के विरुद्ध सूफियो का आन्दोलन उठ खडा हुआ था। इसका उल्लेख ऊपर आ चुका है। हाफिज, जामी और खय्याम के इस प्रेममूलक रहस्यवाद मे बेहोशी और खुमार का प्राधान्य है। 'ईं शर्बते आशिक़ी हमा मर्दारास्त' अथवा 'पेश आ सबुक राहते रूह ऐ साक़ी' वाली खय्याम की रुबाइयो में केवल शून्यता नही है। उसका एक एक कूजा रहस्यवाद से लबालब भरा है। उर्दू कविता में लाक्षणिकता इसी फारसी प्रभाव से आई।

फारस की यह धारा हिन्दी कविता में जायसी, कबीर, मीरा पर अपना प्रभाव डाल चुकी थी। कबीर के रहस्यवाद पर प्रकाश डालने वाले पाँच दोहे इस प्रकार है—

(१) पावक रूपी साइया, सब घट रहा समाय।
चित चकमक लागै नही, तातैं बुझि बुझि जाय॥

'गुरु' अथवा निखिल विश्व का जो परम स्वामी है वह तो सर्वव्यापी है। वह प्रत्येक के हृदय में विद्यमान है, परन्तु उसी तरह अव्यक्त रूप से, जैसे पत्थर में आग छिपी रहती है। परन्तु चित्त के पत्थर को चकमक से जब तक घर्षित नहीं किया जाता तब तक चिनगारी नही उत्पन्न होती। इसी कारण उस अव्यक्त परम पावक की कभी-कभी झलकमात्र तो मिल जाती है, परन्तु फिर वह कहीं अदृश्य हो जाती है। आवश्यकता है किसी गुरु-रूपी चकमक के संयोग में आने की, जो उन छिपे हुए अग्निकणों को स्पष्ट रूप से प्रज्वलित कर दे।

(२) सर्गुण की सेवा करूँ, निर्गुण कहा प्रमाण।
सर्गुण निर्गुण से परे, तहं हमारा ध्यान॥

कबीर कहते है कि यदि परमात्मा को सगुण कहे तो उसमें सेवाभाव की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार निर्गुण में बुद्धि द्वारा आकलन की (अर्थात् 'सगुण-निर्गुण' दोनो उपासना पद्धतियो में अहं-भाव विद्यमान रहता है), परन्तु कबीर का 'साईं' तो 'खालिक खलिक, खलिक में खालिक, सब घर रहा समानी' जैसा है, उसमें ऐसा 'बिलगि-बिलगि बिलगाई हो' कैसे हो सकेगा? ब्रह्म तथा जीव को एकरस-एकरूप मानने वाले शुद्धाद्वैतवादी कबीर को ऐसा विशिष्टाद्वैत पसन्द न था इसी से वे हठयोगी के नाते कहते हैं कि दासभाव या ज्ञान साधना से कही अधिक ध्यान धारणा की आवश्यकता है जिसमें कि सगुण-निर्गुण सबसे परे केवल सच्चिदानन्द बसते हैं।

(३) मानसरोवर ... अन्त न जाय।

इस दोहे में परमावस्था का चित्रण है। हंस से कबीर मुक्तात्मा का अभिप्राय लेते थे। यह दोहा कबीर के उन दोहो में से है जिनमें सांकेतिकता अधिक होने से मूल अर्थ उतना स्पष्ट नही होता। सरल शब्दार्थ तो यों है कि हंसी जब केलि करती है तब मानसरोवर का अवगाहन अतिशय सुकर हो जाता है, और उस मुक्त अवस्था में जब कि मानसरोवर में केलि अर्थात् 'सुरति' स्वामी (परमात्मा) के साथ हो तब सीपियो में से मोती (आँखो के अश्रु आदि) चुन लिये जाते है, अथवा कठिन सीपियो में की ज्ञान-मुक्ता (मुक्ति) उपलब्ध की जाती है और फिर 'आवागमन न होय'। इसमें ध्यान देने योग्य दो बातें है—एक तो 'केलि' द्वारा आध्यात्मिक एकाकारता का स्पष्ट उल्लेख और दूसरे 'अब उडि अन्त न जाय' मे समस्त मानवी, लौकिक गति का अन्त। अर्थात् सायुज्य प्राप्ति के बाद योनि-भ्रमण का कैसे अन्त हो जाता है, यही इससे स्पष्ट ध्वनित होता है।

(४) भरे ... सोई कहाय।

साधारण ज्ञान के अनुभव में तो जो मन रिक्त है वह परिपूर्ण होता जाता है,

और जो मन परिपूर्ण है वह रिक्त होता जाता है, परन्तु चरम अनुभव की दशा में तो खाली और भरा हुआ, इस प्रकार का कोई भेद नहीं है। सच्चे सन्त के लक्षणों में कबीर इसी बात को दूसरे शब्दों में कहते हैं कि 'भाव और अभाव' दोनों साधु के लिए एक से हैं। कबीर अकिंचन और धनिक, मूर्ख और पंडित में भेदभाव न मानकर संपूर्ण समत्व को साथ लेकर चलते हैं। उसी 'समत्व' की भावना को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि यह पंचतत्त्व और वह तत्त्व दोनों एक-से हैं। वस्तुतः सबके भीतर रमी हुई आत्मा एक सी है। अन्तर केवल बाह्य है, गात्रों का है, अवयवीय है। और इसके कारण यदि कबीर की बात समझना हो तो हृदय से, आत्मा से समझो, न कि तार्किक पद्धति से। कविता और विज्ञान के सम्बन्धों की चर्चा आगे होगी।

(५) विरहा समशान।

अब वियोग पक्ष की महत्ता बताते हुए वे कहते हैं कि चूंकि मनुष्य 'दुःख में ही सुमिरन करे'। इस कारण विरह को छोटा या नौकर समझने की आवश्यकता नहीं, ऐसा समझना भूल है। विरह तो नराधिप है, सर्वसत्ताशाली, सर्वान्तर्यामी है। जिसके हृदय में विरह सञ्चारित नहीं होता, वह हृदय क्या है, श्मशान है। इसमें विरोधाभास कितने मजे का है—जो विरह से व्याकुल है वह हृदय श्मशान सा होगा, या जो नहीं है वह? परन्तु यहाँ श्मशान से उनका अभिप्राय शून्यता से है। जिस अन्तर में विरह नहीं वह तो रिक्तमात्र है, चाहे उसमें क्षणिक सुखों का कैसा भी भांडार क्यों न भरा हो।

कबीर के इन पांच दोहों के बाद मीरा के रहस्यवाद की कुछ चर्चा की जाय। मेवाड के मरुप्राय मानस में भक्ति की मन्दाकिनी प्रवाहित करने वाली महारानी मीरा की कविता रचना नहीं, हृदय के स्वाभाविक उद्रेक से फूटे उद्गार हैं। मीरा के अनूठे गीति-काव्य पर विचार करने से पूर्व उनकी वैयक्तिक तथा तत्कालीन सार्वदेशीय परिस्थितियों का पार्श्वपट प्रस्तुत करना आवश्यक है। सामन्ती राजस्थान के अतुल गौरव, चित्तौड के ऊँचे-ऊँचे महल, अनगिनत परिचारिकाएँ उनकी सेवा में प्रस्तुत थीं। परन्तु वैभव और ऐश्वर्य का यह अतिरेक उनके अन्तःस्थल में अनुराग न उपजाकर विराग का निर्माण करने में ही कारणीभूत हुआ। यह मानसिक प्रतिक्रिया भली भांति समझने के लिए मीरा के जीवन से सम्बन्धित उन बातों को भी जानना आवश्यक है जिनके कारण मीरा स्त्री न रहकर 'बैरागिन' या 'भगतिन' बन गई। पति की मृत्यु के उपरान्त मीरा को अपने देवर 'राणा' के हाथों अनेक प्रताडनाएँ सहनी पडी। दुखिनी विधवा का भक्ति-उन्मुख मन इन सब लौकिक कष्टों को सहते-सहते, ननद-जेठानियों के वाक्-प्रहार झेलते झेलते सदैव अपने 'गिरिधर गोपाल' की 'बाँकी, साँवली सूरत' में ही लगा रहा। जब लौकिक पीडा का अतिरेक हो गया,

तब प्रतिक्रिया-रूप, मीरा के हृदय में भक्ति की धारा का आवेगपूर्ण और उत्कट उद्गम होना नितान्त स्वाभाविक ही था।

मीरा के प्रादुर्भाव काल में सार्वदेशीय परिस्थिति यह थी। समस्त उत्तर भारत में भक्तिधारा का एकरस प्रभाव प्रवाहमान हो रहा था। शंकराचार्य का शुद्धाद्वैत ज्ञानाश्रित था, इसलिए जनसाधारण तक उसकी पहुँच न थी। उसकी प्रतिक्रिया के रूप में रामानुजाचार्य द्वारा बोया हुआ भक्ति का अंकुर राम और कृष्ण के दो आराध्यों में स्वतन्त्र रूप से उद्गत हुआ। उपासना-मार्ग की इसी राह पर मीरा का विह्वल मन भी अपने 'साँवरिया' के प्रेम में उन्मद तन्मय, हो उठा। भक्ति के उस धारा-प्रपात के वेगशाली संगीत काल में ऐसा कौन भावुक हृदय था जो 'माधुर्यभाव' की उपासना में योग न देता? तिस पर मीरा तो स्त्री ही थी और सो भी ऐसी स्त्री जिसका कोई स्वामी, कोई आश्रय यहाँ जडजीवन में शेष न था। उनका उसी भक्ति के उन्माद में रँग जाना अनिवार्य ही था।

प्रश्न यह उठता है कि क्या मीरा में भी रहस्यवाद के दर्शन होते हैं, और यदि वह मीरा में विद्यमान है तो वह किस प्रकार का रहस्यवाद है? प्रो० रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार की है 'जीवात्मा' का, प्रकृति के अन्दर जो 'दिव्य और अलौकिक शक्ति' है, उसके साथ 'शांत और निश्छल सम्बन्ध' जोडने की प्रवृत्ति। सभी रहस्यवादी अव्यक्त, अरूप और सीमाहीन अदृश्य के साथ निकटतम प्रेम सम्बन्ध जोडना चाहते हैं। केवल उनकी साधना-पद्धतियों में अन्तर है। मीरा की भक्ति साकारोपासना तक ही न रहकर सामीप्य और सारूप्य की भी प्रार्थिनी है—

म्हारे चाकर राखो जी
चाकर रहसू बाग लगासू, नित उठ दरसन पासू,
वृन्दावन की कुंज गलिन में गोविंद लीला गासू।
चाकरी में दरसन पाऊँ, सुमिरन पाऊँ खरची,
भाव भगति जागीरी पाऊ, तीनों बाता सरसी।
ऊँच-ऊँचे महल बनाऊँ, बिच-बिच राखू बारी,
सावरिया के दरसन पाऊँ पहिन कुसुमी सारी।
मीरा के प्रभु गहिर गँभीरा हृदय रहो जी धीरा,
आधी रात प्रभु दरसन दीन्हे जमुनाजी के तीरा॥

इसी प्रकार केवल साक्षात्कार नहीं, अपितु 'मानक्रीडा', जैसे 'स्याम म्हाँसू एँडे डोले हो, म्हारी आगुरी नाहि छुअत, बाकी पहुँची पकरे हो' आदि प्रसंग, और इतना सहज सामीप्य कि 'माई मैंने गोविन्द लीन्हो मोल,' और उसमें भी विशेषता यह

कि 'नही तराज तोल', आदि बात रहस्यवादी के उत्कट आनन्द की चरम स्थिति की द्योतक है।

कबीर के समान आध्यात्मिक विवाह के उल्लेख भी मीरा मे अनेक स्थलो पर लक्षित हे। जहा वह कहती हे कि 'लोकलाज खोयी' और 'बदनामी लागे म्हाणे घणी मीठी जी', वहाँ उसका लोकिक लज्जा अतज्जा के बन्धनो से परे, निर्भीक, अलौकिक और शुद्ध प्रेम जो हे वह कबीर के 'सतगुरु रे रँगरेज, रँग दे मेरी चुनरी' से क्या कम है ? जहा मीरा को 'सेज अलोनी' लगती है और रमैया बिनु नींद न आवे' की अनुभूति होती है, वहाँ कबीर का 'पिया चलो सेज' और 'हरि मोर पीउ, मे हरि की बहुरिया' वाला भाव है। परन्तु मीरा के स्त्रीत्व के कारण उनकी इस प्रकार के माधुय-भाव की उपासना कबीर से कही अधिक सराग हे। कबीर इतने सुन्दर उलाहने नही दे पाते, जसे मीरा।

इस प्रकार के प्रतीकवाद में माध्यम अथवा गुरू की भी बडी आवश्यकता होती है। कबीर ने जहाँ जगह जगह गुरु की महिमा गाई है, वहा मीरा ने भी 'जोगी मत जा' की बात कही हे—और यह भी कहा जाता है कि मीरा ने रैदास को गुरू माना था। परन्तु इस प्रकार के रहस्यवाद में सबसे ममस्पर्शी भाव स्थल वह होता है जहाँ भक्त प्रमी की आत्मा 'असीम' के विरह म तडपती रहती हे और मार्ग प्रतीक्षा करती रहती है। मीरा विरहिन बनकर 'पाणा री पीली पडी' की अवस्था मे जहाँ 'दिन गणताँ गणता घिस गई रे, आँगलिया री रेख' की बात कहती है और 'अँसुअन जल सीच सीच प्रेमबेलि बोई' की तन्मयता प्रदर्शित करती है, वहाँ कबीर भी 'जा घट विरह न सचरै ता घट जान मसान' वाली बात कहते हे। मीरा का वियोग पक्ष गोपी के हृदय में एक प्रत्यक्ष नन्दलाल' के प्रति लगी 'लाय' की याद दिलाता है, जब वे अनुरोध कर-करके थक जाती है कि 'बसो मेरे नैनन मे नन्दलाल !'

मीरा की भक्ति की कविता ज्ञानाश्रयी शाखा मे से नही मानी जा सकती। ज्ञानाश्रयी निर्गुण सतो की दृष्टि म जो उपास्य अथवा अन्तिम आराध्य है वह नाना रूप में प्रदर्शित होता हुआ भक्त के हृदय को चिर आलोकित करता रहता है वह आराध्य की एकरूपता पर ही आग्रह नही हुआ करता। जब गोस्वामी तुलसीदास ने पत्रोत्तर मे मीरा को राम की महत्ता दिखाई तब मीरा ने अति सहज भाव से उसे स्वीकार कर लिया। गोस्वामी जी की तरह 'तुलसी मस्तक तब नव' नही कहा। मीरा के लिए वस्तुत राम और कृष्ण में अन्तर ही नही था। उनके लिए वे दोनो एक ही अव्यक्त सत्ता के दो रूप थे। इस कारण साधनो का अन्तर होने पर भी मीरा में ज्ञानाश्रयी सतो की सी साध्य की इकाई स्पष्ट दिखाई देती है। कबीर की तरह

हठयोग आदि बातो का निरूपण मीरा ने नही के बराबर किया, क्योकि मीरा का रहस्य-वाद ज्ञानाश्रित नही था। मीरा का मन तो इतना भोला और तल्लीन था कि उनके निकट ज्ञान, भक्ति और कर्म के तार्किक भेद का आकलन ही नही हो सकता था। मीरा के रहस्यवाद में भक्ति का स्नेहार्द्र रूप ही मिलता है।

३

छायावाद का भविष्य

हिन्दी की आधुनिक कविता के क्षेत्र म द्विवेदी-युगीन कवियो की, मसलन रत्नाकर, सत्यनारायण, श्रीधर पाठक, हरिऔध और मथिलीशरण गुप्त जी की पीढी के बाद जिन कवियो ने आज तक रचनाएँ लिखी, उन सब के लिय साधारणतय प्रयुक्त अभिधान है 'छायावादी'। इसमे 'प्रसाद', पन्त (पन्त के दो रूप है 'युगान्त' तक के प्राचीन पन्त और युगान्तोपरान्त युगवाणी, ग्राम्या आदि के नवीन पन्त, अत कहे प्राचीन पन्त) 'निराला' ये अध्वर्यु है। वर्मात्रयी महादेवी, रामकुमार, भगवतीचरण भी किसी न किसी प्रकार इसी के अन्तगत आ जाते है। और फिर है कई छोटे-बडे कवि। इस 'छायावाद' नामक विस्तृत वग के अन्तगत रहस्यवाद, हृदयवाद, हालावाद, समाधिवाद आदि अनकानेक 'वाद' भी आ जाते है। इस लख म इस शब्द 'छायावाद' और छायावादी कविता की कुछ गुण-दोष की चर्चा होगी, और उसके भविष्य के विषय में कुछ आशकाएँ और विश्वास।

साहित्य के इतिहास म भी, जैसे सर्वत्र, स्थिति विरोध-गति (Thesis, Antithesis, Synthesis) वाला नियम लागू होता है। व्यक्ति साहित्यिक किन्ही परिस्थितियो की निपज है, जिनसे वह भगडता है, जूझता है। परिणाम यह है कि वे ही परिस्थितियाँ जिनसे उस व्यक्ति ने जीवन-रस और स्फूर्ति पाई, उस व्यक्ति की विशेषताओ से और वाणी से ओजम प्रसाद और मधुरिमा पाती है। वे बादल जो 'जीवन' से निकले, क्षार तजकर ऊपर गये, फिर 'जीवन' बनकर जमीन पर उतर आये—और इसी तरह ऊपर और नीचे, आदर्श और यथाथ का सतत सघष साहित्य का (और क्या मानव का और क्या राष्ट्र का) इतिहास है।

छायावाद किन परिस्थितियो में पनपा? कौनसी ऐसी विशेषता या आकषण लेकर वह आया कि जो उठा वह छायावाद का प्रेमी बन गया! घर-घर वैसे ही कवि बनने लगे, द्वार द्वार वैसी ही कविता पढी जाने लगी। वह परिस्थिति थी महायुद्ध का अन्त, हिन्दी का प्रान्तो तक प्रसार और ब्रजभाषा की कविता का ह्रास, विपुल समाचार पत्रो का प्रकाशन, राजनीति में गान्धीवाद का प्रारम्भ। अत छायावाद मे उस परिस्थिति से प्राप्त, और उसके विरोध में निम्न प्रवृत्तियाँ प्रधान थी—

१ रीतिकालीन स्थूल सौन्दय के विरोध में सूक्ष्म सौन्दय का आवाहन और आरोपण यथा पद्माकर और मतिराम की नायिकाओ के बदले 'पन्त' को काल्पनिक

प्रेयसी, 'प्रसाद' के 'आँसू' का प्रेम विषय (जिसके लिंग के विषय में आलोचक अभी शंकित हैं—शशिमुख पर घूंघट डाले तुम आये।) आदि। Sex-sublimation या वासना के उत्तोलन वाला प्रेम-काव्य।

२ कल्पनाप्रियता का आकर्षण जरा भी कम न हुआ। मगर अंग्रेजी जानने वाले कवियों के कारण, शैली कीट्स-टेनीसन का अचेतन प्रभाव, कल्पना की नक्काशी शब्दों के स्विनबर्न जैसे सचय से, आकार प्राचुर्य से उठकर अब, प्राकृतिक चित्रण में लगा दी जाती ('पल्लव', 'झरना' और 'परिमल' इनसे भरे) है। सकेतवाद का खूब प्रयोग।

३ रवीन्द्रनाथ का प्रभाव और गद्य काव्य का हिन्दी में विकास। चतुरसेन शास्त्री के अन्तस्तल और वियोगी हरि जी की विह्वल प्रेम भावना के साथ सन्त काव्य के अभिजात्य (Classical) की ओर एक रुझान जिसे कह सकते हैं—एस्केप (पलायन) इस प्रवृत्ति में से उपजा रहस्यवाद या हालावाद।

४ चित्रण और संगीत के समन्वय के साथ (यथा 'पल्लव' की भूमिका में पन्त काव्य को 'चित्र-राग' कहते हैं) उर्दू वालों की कहने की खूबी और नाजुक-खयाली तथा संक्षेप में बहुत सी बात कह देने की पद्धति की ओर, ज्यों-ज्यों जीवन संघर्षपूर्ण और अवकाश कम होने लगा, कवियों का झुकाव। गीतिकाव्य में 'हृदयवाद' नाम की जो चीज रामकुमार वर्मा ने अपनी साहित्य-समालोचना में प्रस्तुत की वह इस बात की चित्र-रेखा थी। छन्दों में प्रयोगशीलता की ओर 'निराला' का प्रगतिपूर्ण कदम इसी का साक्षी है।

५ और इस सब स्थूल से सूक्ष्म की ओर उठने की गान्धीवादी विचार-पद्धति में जल्दबाजी हो जाने के कारण या साधना के अभाव में कविता में अहिंसा की तरह एक रोग धीरे-धीरे फैलता गया--दु खवाद, निराशावाद। महादेवी उस 'वाद' की प्रतीक है चिर-झर-झर-झर। यानी नयन उनके बादल हैं और कविता उनकी गीली। 'बच्चन' के 'एकान्त संगीत' तक 'कोई पार नदी के रोता' वाला निराशा-निमन्त्रण स्पष्ट है। और इस सबकी बुनियाद थी, जो घनीभूत पीड़ा थी—'मस्तक में स्मृति-सी छाई'।

× × ×

छायावाद पर अब नये यथार्थवादी और प्रगतिवादियों की ओर से (Neo-realistics and progressivists) ओर से किये जाने वाले आक्षेपों का विचार किया जाय।

१ हिन्दी मे रोमैंटिसिज्म का यह रूप, जैसे श्री नगेन्द्र जैसे कई आलोचक मानते हैं वैसे अंग्रेजी साहित्य के 'रोमैंटिक रिवाइवल' जैसा ठीक विद्रोह और विकास-

पूण नही है। हिन्दी का छायावाद विद्रोह अधिक है, विकास कम।

२ और अब आकर छायावाद अपनी ही छाया का शिकार बन गया है। यानी उसके विषय सीमित है। उसका दृष्टिकोण सकुचित। वह कतिपय शब्दो का सुघर बुनाव या जाल मात्र है। वह गूज नही, अनगूज है।

३ कल्पना पूजन या कल्पना ही कल्पना का एकान्त और एकागी आराधन हमारी कविता को अमर-बेल बना देगा। वह जीवन की जडो से उखडा और मात्र ऊर्ध्वोन्मुख है। जैसे स्व० प० रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत मार्मिकता से कहा था—"इस प्रकार काव्यक्षेत्र नकली हृदयो का कारखाना बन गया।" 'प्रगीत-मुक्तको' में यह प्रवृत्ति 'साधारणीकरण' भुलाकर 'व्यक्ति वैचित्र्य-वाद' की ओर हमे ले जायगी, जो अहितकर है।

४ शिवदानसिह चौहान या प्रकाशचन्द्र गुप्त जैसे प्रगतिवादी आलोचको के मत से छायावाद अपनी जिन्दगी जी चुका और अपने ही हाथो वह मरेगा। क्योकि अब उसका अपना कोई भविष्य नहीं। जमाना आगे बढ चुका है। वर्ग-सघर्ष तीव्र है और कोई भी ऐसा पलायन उन्हे मान्य नही।

५ नन्ददुलारे बाजपेयी जी ने बडी कुशलता से अपनी नई पुस्तक 'जयशकर प्रसाद' में उन्हे छायावाद का आरम्भ कर्त्ता नेता बनाने और बिना हिचकिचाये कहने से वे बचे है। या 'प्रसाद' जी को उन्होने छायावाद की बुराइयो से मानो बचा लिया है। परन्तु वे 'अचल' के समर्थक है, साथ ही पूनावाले भाषण में Puritanism के भी हिमायती जान पडते है।

इन आक्षेपो के भी उत्तर दिये जा सकते है। और सोदाहरण सिद्ध असिद्ध किया जा सकता है, पर यो लेख बडा हो जायगा। विद्यार्थी इतने ही से कुछ विचार करने का मसाला पा जायँ तो काफी है।

४

नयी हिन्दी-कविता में छन्द-प्रयोग

खुल गये छद के बध
प्रास के रजत-पाश,
अब गीत मुक्त
औ' युगवाणी बहती अयास ! —पत

तुक टूटी तो
सिर झुकते थे,
तुक जुडती
मुसका जाते थे !
जब जीवन सम्मुख आना—
बस,
उसे बेतुका बतलाते थे ! —निराला

मेरा कहना है ब्रजभाषा मोस्ट रद्दी है,
खारवाँ की गद्दी है,
और स्वच्छन्द मेरा राग घट-बढ है,
छन्द जो रबड है ।' —'उजबक' · उग्र

उजबक प्रहसन का पात्र चाहे जो कहे, प० रामचन्द्र शुक्ल 'निराला' के सम्बन्ध में दो परस्पर-विरोधी (या परस्पर-पूरक) बातें कहते है ।

'सगीत को काव्य के और काव्य को सगीत के अधिक निकट लाने का सबसे अधिक प्रयास निराला जी ने किया है ।'

'सबसे अधिक विशेषता आपके पद्यो में चरणो की स्वच्छद विषमता है । बेमेल चरणों की आजमाइश इन्होने सबसे अधिक की है ।'

निराला 'बधनमय छदो की छोटी राह' छोडकर, छद की कारा तोडकर हिन्दी में मुक्त-छद को बगाल से लाये । 'परिमल' की भूमिका में वैदिक काव्य की गण-साम्य-विहीनता का उदाहरण देकर निराला जी ने बतलाया है कि ज्यो-ज्यो सभ्यता नियम-जडित होती जाती है, उसमें चित्रमयता बढ़ती जाती है, अनुशासन जकडते चले जाते है । छद भी जिस तरह कानून के अन्दर सीमा के सुख में आत्मविस्मृत हो सुन्दर नृत्य करते, उच्चारण की शृखला रखते हुए, श्रवण माधुर्य के साथ-ही-साथ

श्रोताओं को सीमा के आनन्द में भुला रखते हैं, उसी तरह मुक्त छद भी अपनी विषम-गति में एक ही साम्य का अपार सौन्दर्य देता है, जैसे एक ही अनन्त महा समुद्र के हृदय की सब छोटी-बड़ी तरगें हो, दूर प्रसरित दृष्टि में एकाकार, एक ही गति में उठती और गिरती हुई। नयी हिन्दी-कविता म छद के विषय में लिखना निराला और परवर्ती कवियो के छद-विषयक प्रयोगों पर लिखना है। सक्षेप में, मुक्त छद पर लिखना है।

मुक्त छद को परिभाषित करें। 'मुक्त' का अर्थ यह है कि रूढ छद-शास्त्र से, सस्कृत-परम्परा से आने वाले हिन्दी के पिगल और देशज तर्जों या जातियो से, घिसे-घिसाये या पिटे-पिटाये काव्य-रूपो से भिन्न, स्वतत्र, नवीन छद-विधान। परन्तु इस मुक्ति का अर्थ यह नही कि वह सर्वथा अराजकतापूर्ण गद्य मात्र हो। यद्यपि आधुनिक कविता में गद्य और पद्य की सीमाएँ बहुत-कुछ मिटती जा रही है बकौल जी० एम० हॉपकिन्स के।[1]

फिर भी इस बँगला के अभिन्न, हिन्दी के भिन्नतुकात और स्वच्छन्द गुजराती अपद्यागद्य और मराठी के 'मुक्त' छद के विषय में, जो बहुत-कुछ अग्रेजो के ब्लेक वस फ्री वर्स या वर्स लीब्र से प्रभावित है, विशेष जानना आवश्यक है।

मूलत' इस समस्या के दो अग हैं—(१) कविता छद बधन से मुक्त हो, यानी इस प्रकार बँधे-बँधाये छद से छुटकारा पाने से उसका कुछ नही बिगडता, क्योकि छद एक कृत्रिम, बाह्य पाश है, (२) पुराने छद-प्रकार अब चमत्कार-शून्य हो गये हैं।

अब पहले तो यही देखना होगा कि छंद क्या कविता का पहिनावा मात्र है या कि मूर्ति-वत्ता है? वह कविता का बाह्य वेश है या आकार है? वह कविता की रस वस्तु से निगडित उससे निर्णीत कोई रूप है या उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है? फिर यह देखना होगा कि छदस्त्व किस चीज पर निर्भर करता है—ताल पर, लय पर, अक्षरमैत्री पर, प्रास पर या गण-मात्राओ की आवृत्तिमात्र पर? फिर छद को कविता की सगीतात्मकता से भिन्न मानना होगा। अध्यापक रामखेलावन पाडेय अपने 'गीति-काव्य' पर अज्ञेय का गीत 'दूर-वासी मीत मेरे' उद्धृत कर आगे भाष्य में लिखते हैं—

---

१ वी मस्ट नॉट इन्सिस्ट ऑन नोइग ह्वेयर दि वर्स एड्स ऐंड प्रोज (आर वर्सेस ऑपोजीशन) बिगिन्स, फॉर दे पास इन्टू वन ऐनदर।

पद्य कहाँ समाप्त होता है और गद्य (अथवा अपद्य-रचना) कहाँ आरम्भ होता है, यह जानने का आग्रह हमें नही करना चाहिए, क्योकि वे दोनो एक दूसरे म मिल जाया करते हैं।

१४ मात्राएँ। 'पहुँच क्या तुम तक सकेंगे काँपते ये गीत मेरे' = २८ मात्राएँ। 'गीत,' 'विनीत' में रद्दीफ का मेरे में काफिये का आग्रह है। 'आज कारावास छार जलकर' में रुबाई का ढग स्पष्ट लक्षित है। लेकिन गायक अथवा पाठक का ध्यान इस छद-बध की ओर न जाकर सहज स्वाभाविक गीति-प्रवाह की ओर जाता है। शब्दो की प्रकृत सगीतात्मक शक्ति द्वारा रागात्मक वृत्ति को स्फूर्ति मिलती है। यह गीति-काव्य वाद्य-यत्र की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता। आवृत्ति, प्रकृति और अभिव्यक्ति के द्वारा सहज अतर्स्थित सगीत की धारा फूट पडती है। सगीत इसकी आत्मा के साथ घुला-मिला है। सगीत स्वरूपात्मक न बनकर आत्मिक बन जाता है। तालैक्य की दो श्रेणियाँ है—एक आन्तरिक, दूसरी बाह्य। छद के बधन इस बाह्य तालैक्य की अपेक्षा रखते है। अन्तर्तालैक्य का निर्वाह और अविच्छिन्न आतरिक धारा का सफल निर्वाह गीति-काव्य का लक्ष्य होता है। इस प्रकार गेय काव्य से गीति काव्य भिन्न है।

मराठी ग्रन्थ 'छदोरचना' के आरम्भ मे डॉ० पटवर्धन ने सभी मात्रा-प्रबन्धो का पद्य मानकर उनके तीन विभाग किये है—(१) वृत्त या लगत्वभेदानुसारी अक्षर-सख्यक रचना। इसे अक्षरछद भी कहते हैं। इसी के दो भेद है—(क) भिन्न मात्रा-वली के सख्याक्रम भेद से सिद्ध होने वाले वृत्त, और दूसरे (ख) किसी विशेष गण की पुनरुक्ति से सिद्ध होने वाले वृत्त, (२) छद या लगत्वभेदसहित अक्षर-सख्याक रचनाएँ जिनमे षण्मात्रिक ताल और अष्टमात्रिक ताल के दो भेद है—(३) जाति—लगत्व भेदानुसारी तथापि अक्षर-सख्यक नही, अपितु मात्रा-सख्याक रचना। इसमें भी मात्रा षण्मात्रिक और अष्टमात्रिक ताल के दो भेद है। साधारण पिंगलो में गण-वृत्त, मात्रा-वृत्त और अक्षर-वृत्तो की चर्चा होती है, जैसे मालिनी, शिखरिणी और शार्दूलविक्रीडित, आदि विद्युन्माला से स्रग्धरा तक के छद जो 'यमाताराजभानसलगम्' से बँधे रहते हैं। हिन्दी के प्रियप्रवास और सिद्धार्थ काव्य इनमें है। बाद में ये छद क्यो हिंदी में लोकप्रिय न रह पाये, पता नही। मराठी-गुजराती में ये छद, विशेषत शार्दूलविक्रीडित, मन्दारमाला आदि अभी भी बहुत प्रचलित है। दूसरे प्रकार से वर्णिक छद अभी भी हिन्दी में रूढ़ हो गये है और वे चामर, गीतिका आदि के रूप। 'मिट्टी की ओर' में दिनकरजी 'तुलसीदास' के छद की विवेचना में पद्धरी अथवा पद्धटिका की चार पक्तियों और अत में लध्वत मात्राओ का वर्णन करते है। "पद्धरी अथवा पद्धटिका' की दो पक्तियो का मिलित प्रवाह बहुत-कुछ पिंगल के मत्तसवैया तथा शुद्ध ध्वनिछद से मिलता-जुलता है।" इस १६ मात्राओ वाले छद के साथ-ही-साथ १४ मात्रा वाले प्रसादी छद को "उर्दू के 'मफऊलो मफाईलुन, मफऊलो मफाईलुन' बहर के वजन पर निकला हुआ-सा" दिनकर मानते है। महादेवी की 'नीरजा', 'साध्यगीत'

'यामा' में तथा बच्चन के 'एकांत सगीत', 'निशा-निमत्रण' आदि में गजल के काफिये-रदीफ पद्धति की भी छाया दीखती है। परन्तु ये सब वर्णिक और मात्रिक छद अततः रूढ छद की ही कोटि में आते है। परन्तु स्पष्ट है कि मुक्त छद के जो प्रयोग आज हिन्दी की नयी से-नयी कविता में मिल रहे है, उन पर उर्दू, अग्रेजी, लोकगीत का धुनो, अ य भाषाओ के छद प्रयोगो की स्पष्ट छाया होने पर भी हिन्दी की देशी छद पद्धति से कटकर वे प्रयोग बिलकुल अटपटे लगेंगे—जसे शमशेर बहादुर के कुछ नये प्रयोग, या केदारनाथ अग्रवाल की तालात्मक गद्य-रचना।

और गहरे जाकर हमें मुक्त छद मे भी उस तत्त्व को, जो कि उसे गद्यात्मक नही बनने देता, उस 'अतर्तालवय' और लय की स्वरूप-सिद्धि को समझना होगा। क्योकि लय और ताल सगीत से लिये हुए शब्द है, इसलिए यह स्पष्ट जान लेना होगा कि सगीत लय से छदोलय कैसे भिन्न है। वा ना देशपाडे के अनुसार—

सगीत स्वर-प्रधान है। उसका आधार श्रुति, ताल, मात्रा आदि है।

छद अक्षर-प्रधान है। उसका आधार गणमात्रा, स्वराघात आदि है। 'यजुसामनियताक्षरत्वादेतेषां छदो न विद्यते।'

सभी सगीत छदमय नही होते। कई 'चीजो' मे सगीत होता है, किन्तु काव्यत्व नही। दादरे या ध्रुपद या अढाने के बोल सगीत के गणित के समान हैं। उनम अर्थ प्रधान नही।

सभी छद सगीतानुकूल नही होते। कई पद्य-प्रकारो मे छदस्त्व होता है; परन्तु सगीत-लय नहीं होती। (उदाहरणाथ हिन्दी का डिंगलकाव्य) छद में नाम की अपेक्षा ध्वनि चित्रो पर अधिक ध्यान होता है।

सगीत की चीजो को आप सीधे पढ़िये, या उनका 'रेसीटेशन' (तालबद्ध आवृत्ति) कीजिए, कोई आनन्द नही आवेगा। कभी-कभी ताल भी नही जान पडेगा।

छदमय पद्य-रचना के सीधे पढ़ने से भी साहित्य-प्रेमी प्रसन्न होगा। उसमें का छदस्त्व बिना गलेबाजी के भी प्रभावशाली होगा।

सगीत के लिए पद्य-रचना आवश्यक नही। केवल अक्षर पर्याप्त होते हैं।

छद की लय से पद्य की अक्षर-रचना का नियमन होता है। मुक्त-छद भी छदस्त्व से मुक्त नही हो सकता। अन्यथा वह गद्य हो जायगा।

'गायनवादननर्तन इति संगीतः'।

चन्दयति इति छद. (जो आह्लाद दे वही छद है)।

'प्रसाद' जी ने अपनी 'काव्यकला' में लिखा है—'सगीत नादात्मक है और

कविता उससे उच्चकोटि की अमूर्त्त कला।' तो यह हम मानकर चलें कि जिस कविता की हम चर्चा करने जा रहे है, उसमें सूक्ष्म छदोलय तो एकदम आवश्यक है ही। उसके बिना वह पद्य न रहकर, गद्य-रचना बन जायगी। कभी-कभी पद्य के बीच में कही भावो को नाट्यात्मक ढग से तीक्ष्णतर बनाने के लिए गद्य का भी आश्रय लिया जा सकता है, जैसे मराठी के वीरकाव्य 'पोवाडो' के छदो म गति को और तीव्रता देने के लिए बीच मे एक-दो पक्तियाँ एकदम गद्यप्राय बोली जाती है। जैसे, बच्चन के 'बगाल का काल' में 'गॉड हेल्प्स दोज हू हेल्प देमसेल्व्ज' को गद्य नही तो कसे पढ़ेंगे ?—छद की लय के साथ यह पक्ति बीच मे ही भिन्न प्रकार की जान पड़ती है।

हिन्दी-कविता मे नये कवियो ने जो इस क्षेत्र में कुछ प्रयोग किये हैं और उन्हे इस दिशा में जो कठिनाइयाँ जान पडी है, या और जो जो सभावनाएँ इस क्षेत्र मे है, उन पर विस्तृत विवेचना एक एक कवि को लेकर, उसकी रचनाओ से उदाहरण देकर, करे। इस क्षेत्र म सबसे पहिला नाम 'निराला' जी का आता है। 'पतजी और पल्लव' नामक निबन्ध में 'निराला' ने कोमल और परुष मुक्तछद के भेद की चर्चा की है। उदाहरणार्थ पत के 'रूपाभ' से ये दो गीत लीजिये। इनमें गति-यति का साम्य कहाँ है ?

(१) राग, केवल राग !
छिपी चराचर के अतर में—
अनिर्व्याप्य चिर आग,
राग, केवल राग !

प्रथम पक्ति पढने पर यह 'र-त' गण का छद जान पडता है। परन्तु दूसरी और तीसरी पक्तियाँ मात्रिक छद की है—१६, ११ की।

(२) तूल जलद, ऊरण जलद —('भ-गरण, दो लघु' की पुनरावृत्ति)
तूम धूम, जलपूर्ण जलद —(गति-भग, मात्रिक पक्ति, १४ मात्रा)
कात मसृण जलसूत —(११ मात्रा)
भू-पट पर जीमूत —(११ मात्रा)
हरित काढते तृण, तरु, छद !—(१४ मात्रा)

(इसी प्रकार के १२, १४, ११, ११, १४ की आवृत्ति वाले आगे के सब छद है।)

उर्दू का रग नयी हिन्दी-कविता पर इतना अधिक आ गया है, क्या आप नीचे की दो पक्तियाँ पढकर कल्पना कर सकते है कि ये किसकी लिखी हुई होगी—

लडाई कडी है, मगर आखरी है
खयालात अपने, निगाहे बिरानी ।

ये दो पक्तियाँ नरेन्द्र शर्मा के 'हसमाला' सग्रह से है। और वीरेश्वरसिंह की ये पक्तियाँ—

जरा अब घर की सीधी बात कह दो ।
अभी बाकी है कितनी रात कह दो ।

इन पक्तियो मे अधोलिखित दीर्घाक्षर ह्रस्व पढ़े जाते है। यह उर्दू की सुविधा तथा बँगला और मराठी का अक्षरालोडन वाला सौन्दय खडीबोली को प्राप्त न होने से उसे सस्कृत परम्परा से चलना पडता है। फिर सस्कृत-शब्दो के उच्चारण भी हिन्दी में निश्चित नहीं—कभी 'अमृत' प्रथमाक्षर पर स्वराघात से पढ़ते है, कहीं अमृतकुँअर जैसे शब्दो में बिना आघात से। इसीलिए 'निराला' से 'कुकुरमुत्ता' में मुक्त छद की और खडीबोली की (क्योंकि वह उर्दू की भाँति लचकीली नही) छीछालेदर-सी हुई है।

उदाहरणार्थ—तीर से खीचा धनुष मैं राम का
काम का—
पडा कन्धे पर हूँ हल बलराम का
सुबह का सूरज हूँ मै ही
चाँद मै ही शाम का।
मै ही डाँडी से लगा पल्ला
सारी दुनिया तोलती गल्ला
मुझसे मूँछे, मुझसे कल्ला
मेरे लल्लू, मेरे लल्ला ।

'फायलातुन फायलातुन फायलुन'—से शुरू कर बाद में यह गति बदलती चली जाती है। कही कवित्त के टुकडे है, कहीं मात्रिक छन्द जैसी गति है, कहीं चामर है, कहीं उर्दूवाला वजन। जहाँ नाम-सज्ञाएँ आती है वहाँ ये खीचातानी असह्य हो जाती है, जैसे—

मेरी सूरत के नमूने पीरामीड्
मेरा चेला था यूक्लीड
रामेश्वर, मीनाक्षी, भुवनेश्वर,
जगन्नाथ, जितने मदिर सुदर,

निराला की ये कमजोरियाँ निरालोत्तर मुक्त छंद-लेखको में चलती रहीं। लिखित कविता के चरणक, पठित कविता के चरणको से आँके जाने लगे। उर्दू

मुक्तछंद अलग दिशा में चल रहा था, हिन्दी मुक्त छंद जैसे परम्परा से कटकर अपनी अलग धारा बनाने लगा। मगर निरे भावावेश से कुछ नहीं होता। सतर्कतापूर्वक इस छंद-नावीन्य को, छंद में नये प्रयोगों को ग्रहण करना चाहिए, यह बात 'तारसप्तक' के कवियों के काल तक आकर मिलने लगी।

'अज्ञेय' के 'इत्यलम्' संग्रह में लोकगीतों की धुनों का असर परावर्ती छंदों में स्पष्ट है, जैसे 'ओ पिया पानी बरसा', 'फूल काँचनार के, प्रतीक मेरे प्यार के'; 'वह आयेगी—धारा आती जाती है, वह मेरी नस-नस की पहचानी है' ('आषाढस्य प्रथम दिवसे')। 'अज्ञेय' के मुक्त छंद पर अंग्रेजी के आधुनिक छंद-प्रयोगों का, विशेषतः इलियट की प्रलंबित, पुनरावृत्ति वाली टेकनीक का और लॉरेंस की भावावेशमय गद्यात्मक ध्वनि-चित्रण पद्धति का बहुत सूक्ष्म पर गहरा प्रभाव है। परन्तु अज्ञेय के मुक्त छंद में सरसता न आ पाने का कारण उसमें नाद-माधुर्य की जो एक मूलभूत अंतर्धारा चाहिए, उसका अभाव है। छंद की गति भी सहसा कहीं कहीं टूट जाती है, जैसे शरणार्थी में उनका यह छंद—

'मानव की आँख'

कोटरों से गिलगिली घृणा यह झाँकती है !—(४-४-४ ४ कवित्त-जैसी यति)
मान लेते यह किसी शीत-रक्त, जड-दृष्टि —(वही)
जल-तलवासी तेंदुए के विषनेत्र हैं —(सहसा ३ अक्षरों वाला अंत)
और तमजात सब जंतुओं से —(३ अक्षरों का अंत)
मानव का वैर है
क्योंकि यह सुत है प्रकाश का— —(अक्षरों का अंत)

यदि इनमें न होता यह स्थिर लप्त स्पदन तो ? और इस पंक्ति का तो कोई नियम ही नहीं। और 'सावन-मेघ' (तारसप्तक, पृष्ठ ७७) कविता में चौथी पंक्ति की गति पहली तीन से एकदम भिन्न है। अतः इस प्रकार यदि मुक्त छंद किसी-न-किसी अंतर्लय को भी न मानेगा, तो दूसरे भाषा-भाषी पाठकों के लिए यह कठिन हो जायगा कि वे उसे पढ़ें और उससे आनन्द उठा सकें।

गिरिजाकुमार माथुर ने इस दृष्टि से बहुत सफल प्रयोग किये हैं। उन्होंने सवैये को तोड़कर 'आज हैं केसर-रंग रँगे बन' में प्रयुक्त किया। संगीत का प्रेम होने के कारण वे शब्दों के ध्वनि-चित्रों को खूब समझते हैं, इसीलिए नये शब्दोच्चारणों की अवतारणा भी करते हैं—*सूनसान, मॉदी, पिरामीड* इत्यादि। परन्तु गिरिजाकुमार के अधिकांश मुक्तछंद एक योजनाबद्ध छंद-प्रयोग को लेकर चलते हैं। उनके पीछे ध्वनि-योजना (साउंड-पैटर्न) की भी भावना होती है, जैसे 'तारसप्तक' के 'वक्तव्य' में वे स्वयं कहते हैं—'ध्वनि-विधान में मेरे प्रयोग मुख्यतः

स्वर-ध्वनियो के है। व्यजन-ध्वनियो से उत्पादित सगीत को मैं कविता में सगीत नहीं मानता। प्रत्युत् रीतिकालीन रूढ़ि समझता हूँ। छायावादी कवियो में इसी कारण मै कोई सगीत नही देखता। ' परन्तु इधर गिरिजाकुमार की कविता में गद्यमयता आती जा रही है, जैसे 'एशिया का जागरण' या 'तीन जून' इत्यादि प्रसगनिष्ठ कविताओ मे। मुश्किल यह है कि गिरिजाकुमार के जो कोमल गीत प्रयोग प्रकाशित होने चाहिएँ, वे न छपकर, छपती है 'ओ बैड बजाने वालो, साथ-साथ निज कदम मिलाकर, चलो आज बाहर आओ सडको पर।' जन-भाषा और जन साहित्य के युग में कविता को भी जन-कविता बनाने के आग्रह में उसमें की सगीतात्मकता में, लयमयता मे एक आवश्यक परिवर्तन तो आवेगा ही। परन्तु उसका अर्थ यह न हो जाय कि गद्य-पद्य की सीमा-रेखाएँ इतनी मिट जाय कि काव्य और सगीत का जो सूक्ष्म और आतरिक सुदृढ सम्बन्ध है, वही भंग हो जाय—जैसा कि केदारनाथ अग्रवाल, रागेय राघव और शमशेर बहादुर की कुछ छद-रचनाओ में व्यक्त होता है। उनके बारे में तो गियोम एपोलिनेयर की ये पक्तिया आती है—

You read prospectuses and the catalogues and
the placards shouting aloud
Here's your poetry this morning

इधर एक बहुत मजेदार छोटी पुस्तक मेरे पढ़ने में आई—जाक मारितेन की 'आर्ट एड पोयट्री' उसके अतिम निबन्ध 'फ्रीडम ऑफ सॉग' में यह कुछ रहस्यवादी सा समीक्षक पिकासो की चित्रकला, स्ट्राविनस्की के सगीत और आँद्रे जीद के लेखन में तुलनाएँ देता हुआ बतलाता है कि मार्क्सवाद की ओर इन कलाकारो का झुकाव कहाँ तक उनकी कला के लिए हितावह हुआ है। लौरी की 'डाइलेक्टिकल सिफनी' की चर्चा तक पहुँचकर वह कहता है कि "प्रत्येक कलाकृति के तीन अग होते है—शरीर, प्राण और आत्मा! शरीर से तात्पर्य है भाषा, उसका रसज्ञ से सवाद, उस कला का टेकनीक वाला अग; प्राण से तात्पर्य है उसमें की सक्रिय भावना-कल्पना और आत्मा है काव्यत्व!" इस कसौटी से मार्क्सवादी कलाकारो ने अपने टेकनिकल (रूपात्मक) माध्यम में बहुत सतर्क और सचेष्ट प्रायोगिकता लाने का प्रयत्न चाहे किया हो, कला की पीठिका—उसमें की काव्यमयता न जाने क्यो सूखती जा रही है। सम्भव है, यह दोष मार्क्सवादी विचार-पद्धति का इतना न होकर, उसे कलाओ पर घटित करने वाले हमारे प्रयोग-वीरो की अक्षमता का हो।

मुक्तिबोध और शमशेरबहादुर के उदाहरण इस दृष्टि से चिन्त्य है। अपनी एक नयी कविता 'विहान' में, जिसे वह एक 'लिरिक ड्रामा' कहकर संबोधित करते है, शमशेर लिखते हैं—

वह
आती है
कछनी कसे
वीरबाला
अग
हार हसली
करधनी
कडो-छडो मे फँसे ।

इसे रूढ़ कवि यो लिखते—

वह आता है कछनी कसे वीरबाला [१४ अक्षर, २२ मात्रा]
अग हार हँसली करधनी कडो-छडो मे फँसे । [१८ अक्षर, २६ मात्रा]

किसी भी तरह इन दो पक्तियो में हिंदी की दृष्टि से ध्वनि-साम्य नही, सिवा 'कसे', 'फँसे' के ! शमशेर बहादुर उर्दू के 'वज़न' मे प्रभावित है—परन्तु बीच-बीच मे निराला के कवित्त—मुक्त छद को लिखे जाते ह। परिणाम—एक अराजक रचना।

आगे चलकर तो और भी मजा है जब मार्क्सिस्ट सिपाही बिलकुल गद्यप्राय बोलने लगता है। और समस्त नर-नारी जन-मन—'ॐ जयशकर ' वाली आरती के स्वरो में 'गीत' गाते है। स्पष्ट है कि शमशेर ने 'गीत' शब्द का प्रयोग बहुत ही लचीले ढग से किया है। मुक्तिबोध तो और भी विचित्र ढग से बेचारे छद को मरोडते है। असल में हिंदी के नये कवि अंग्रेजी और उर्दू की नयी बदिश से अत्यधिक प्रभावित जान पडते है। ये पक्तियाँ देखिये—

वीरेश्वरसिह की रचना है। 'सुबह किसकी है, शाम कह दो ! छुटी क्योकर अयोध्या, राम कह दो !'

तुको के मामले मे कुछ नयापन (ऑडेन के ढग पर) भारतभूषण अग्रवाल और मैने लाने का प्रयत्न किया है। क्योकि मै मराठी कविता का अध्ययन करता रहा, और प्राचीन मराठी कविता में तुको का चमत्कार काफी है। मैंने सानेट भी कई प्रकार के लिखे है। बालकृष्ण राय ने हिन्दी मे सवप्रथम सानेट लिखे। बाद में त्रिलोचन आदि कई कवियो ने इस दिशा में सफल प्रयोग किये है। मुक्तिबोध की बेतुकी रचना मे गति भी कई बार टूटती है।

कर सको घृणा क्या इतना रखते हो अखड तुम प्रेम ?
जितनी अखड हो सके घृणा उतना प्रचड रखते क्या जीवन का व्रत नेम ?

दूसरी पक्ति के अत में गति कैसे टूट जाती है ! प्रश्न यह है कि यदि गति या

गील तोडना भी हो तो उसके पीछे कोई कारण, कोई स्पष्टीकरण तो होना ही चाहिए।

अतत मुझे निवेदन इतना ही करना है कि मुक्त छन्द का प्रयोग हिंदी में अभी बहुत एकरस और अराजकतापूर्ण चल रहा है। उसे सयत, समृद्ध और सजीव बनाने की ओर हम आधुनिक कवि अधिक विवेक से जुटे। हमें यह सबसे पहले देखना है कि मुक्त छन्द विषयानुसारी हो। आशय ही अभिव्यक्ति का निर्णायक बने। हम निरे 'फार्म' के पुजारी, रवीन्द्रनाथ जिन्हे 'रूप लक्षी' कहते थे, वही न बनकर रह जायँ।

फरनाड ग्रेध ने अपने एक फ्रेंच लेख मे १६८६ में कहा था कि "कवि प्रास-युक्त, तुकान्त रचना की ओर यो झुकते है, ज्यो नदिया समुद्र की ओर जाती है। परन्तु ऐसा साक्ष्य काव्येतिहास में सर्वत्र नही पाया जाता म स्वय मुक्त छन्द का स्वच्छन्द प्रयोग करता था, पर साथ ही कहता था कि 'तुकान्त रचना कभी नहीं मरेगी'।"[1]

---

१ मूल फ्रेंच यो है La Poésie va au vers comul la rivière suit sa pente. On est conjus d'aivii à expiimei, bien mieux, à défendre de telles évidences Oice deimer admothait si bien le vers libie qu'il l'employait couiament lui-mêne, mais il avait affiimé "onne tueia pas la veis iégulier"

तीसरा भाग

आधुनिक गद्य

१

हिन्दी गद्य की कुछ आवश्यकताएँ

एक हिन्दी-प्रेमी और हिन्दी-सेवी के नाते मैं कुछ बातें पाठक, लेखक, सम्पादक और प्रकाशकों की सेवा में रखना चाहता हूँ। हिन्दी साहित्य में इधर पत्र-पत्रिकाओं की संख्या आये दिन बढ़ रही है, प्रकाशन भी विपुल मात्रा में हो रहा है, और हिन्दी सीखने वालो की संख्या भी बढ़ती जा रही है, ऐसी दशा में मेरे सुझाव साहित्य के निर्माणात्मक पक्ष को बल प्रदान करेंगे ऐसी आशा है। अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिमी-साहित्य और उत्तर भारत की सभी प्रमुख भाषाओं के साहित्य के एक तुलनात्मक अध्ययन करने वाले के नाते मुझे हिन्दी गद्य में जिन अंगों के साहित्य की कमी जान पड़ती है, वे सब अभाव पहले व्यक्त करता हूँ, और साथ ही उन्हें दूर करने के लिए साहित्य प्रक्रिया में लेखक से पाठक तक सभी पक्षों की चर्चा भी मैं इस छोटे लेख द्वारा करूँगा।

गद्य के साधारणत —(१) गम्भीर और (२) ललित—ऐसे विभाग कल्पित करने पर उनके अन्तर्गत निम्न साहित्य-प्रकार आ जाते है—

(१) गम्भीर गद्य—

१—कोष-साहित्य,
२—यात्रा-साहित्य,
३—वैज्ञानिक साहित्य,
४—बाल-साहित्य,
५—महिलोपयोगी साहित्य,
६—निबन्ध,
७—आलोचना, भाषाविज्ञान, व्याकरण,
८—ऐतिहासिक गवेषणा,
९—कला सिद्धान्त और व्यावहारिक पक्ष,
१०—संदर्भ ग्रन्थ,
११—पत्र-साहित्य, और
१२—जीवनी।

(२) ललित साहित्य—

१—कथा आख्यायिका,
२—उपन्यास,
३—नाटक,

४—हास्य-व्यग,
५—ललित निबन्ध, और
६—मनोरजक-पुस्तकें ।

मैने इस तालिका में समाचारपत्र साहित्य को इसलिये छोड दिया है कि वह अपेक्षाकृत कम स्थायी होता है, यद्यपि लोक-रुचि-निर्माण में उसका बहुत बडा हाथ ह । मै यहाँ ललित गद्य की चर्चा कम करके उपयोगी गद्य-साहित्य पर अधिक कहना चाहता हूँ ।

कोप-साहित्य और संदर्भ-ग्रन्थ

हर्ष का विषय है कि इस ओर अब हिन्दी के विद्वानो का ध्यान जाने लगा है। जहा तक हिन्दी से हिन्दी शब्द कोष का सम्बन्ध है शब्द-सागर के बाद कोई बडा कार्य इस दिशा में कम हुआ है। इधर शब्द सागर जब से अप्राप्य हो गया है, गुटका कोष से काम चलाया जाता है । परन्तु मुहावरा कोष, ब्रजभाषा कोष, उर्दू-हिन्दी कोष, और अग्रेजी के दो चार कामचलाऊ कोषो के अलावा, कोई सवव्यवहारोपयोगी कोष हिन्दी मे बहुत कम है । क्या हमें अब भारत की प्रत्येक भाषा के नागरी अक्षरो में हिन्दी में अर्थ देनेवाले कोष नहीं छापने चाहिएँ ? तमिल-अग्रेजी लेक्सिकन है, परन्तु यदि किसी भी दक्षिणी भाषा को सीखना हो तो हिन्दी में, हिन्दी माध्यम द्वारा न 'शिक्षक' जसी छोटी पुस्तकें मिलेंगी, न कोष । कन्नड, मलयालम, तमिल, तेलुगू की टाइप की बात कठिनाई के कारण छोड भी दें, फिर भी बँगला, मराठी, गुजराती जो कि नागरी से इतनी निकट हैं—उन भाषाओ के हिन्दी में कोष चाहिएँ । और तो और सस्कृत के प्रामाणिक कोषो के लिए मोनियेर विलियम या आपटे या जर्मन कोषकारो को टटोलना पडता है, सस्कृत-हिन्दी का एक बृहत्कोष चाहिए । वसे ही पाली, अपभ्र श अर्धमागधी, अवधी, राजस्थानी, पजाबी, मैथिली, सिधी, नेपाली, गुरखाली, असमिया, उरिया भाषाओ और बोलियो के हिन्दी में कोष आवश्यक है । फिर भारत के पडोसी देश तिब्बत, चीन, बर्मा, थाइलैड, अफगानिस्तान, लका इत्यादि की भाषाओ के कोष हिन्दी में छपने चाहियें । यह नहीं कि खोजने पर हिन्दी में हर भाषाओ के विद्वान् नहीं मिलेगे, विदेशी भाषाओ के भी अच्छे ज्ञाता हमारे देश में है । ऐसी अवस्था में उनके ज्ञान का उपयोग अग्रेजी को मिले और हिन्दी को नही, यह कुछ ठीक नही ।

यह बात तो केवल भाषा सीखने-सिखलाने वाले कोषो की हुई । परन्तु उससे आगे चलकर विशेष दृष्टि से तैयार किये हुए कोष हिन्दी में होने चाहिएँ । उदाहरण के तौर पर मै मराठी के चार कोषो की बात कहता हूँ—एक तो है, व्युत्पत्ति-कोष (जिसमें प्रत्येक शब्द का मूलाधार खोजकर बताया गया है), दूसरा, प्राचीन चरित्र-कोष (कॉसेल की क्लासिकल डिक्शनरी की तरह)—इसमें सब पौराणिक ऐतिहासिक

नामो की सक्षिप्त कथाएँ और सदर्भ मिलेंगे, तीसरा है व्यायाम ज्ञानकोष—इसमें सब प्रकार के व्यायाम और शारीरिक शिक्षण सम्बन्धी बातो की विस्तृत चर्चा है, चौथा है, मानसशास्त्र-परिभाषा-कोष—इसमे मनोविज्ञान सम्बन्धी शब्दो की स-व्याख्या विवेचना है। हिन्दी भाषा को पुष्ट और सजीव बनाने में न केवल अग्रेजी से सस्कृत के नये शब्द गढने से काम चलेगा, वरन् देश के शब्द भण्डार में जो लाखो शब्द गाँवो की बोलियो में, प्रान्तीय देश-भाषाओ में छिपे पड़े है, उन्हे साहित्य में लाना होगा।

इन कोषो के अलावा इनसाइक्लोपीडिया इडिका जैसी बृहत्तर रचना हिन्दी के विद्वानो द्वारा हो। महाराष्ट्र-ज्ञानकोष जैसे डॉ० केतकर और उनके साथियो ने बनाया, या उस्मानिया यूनीवर्सिटी में जैसा प्रयत्न उर्दू के एक बृहत्कोष का चल रहा था, वैसा हिन्दी में बृहत् ज्ञानकोष आवश्यक है। यदि कोई सस्था या शासन इसे आवश्यक द्रव्य दे तो मेरे जैसे परिश्रमी और लगन के १०-१२ व्यक्ति मिल जायँगे जो जमकर १० वर्ष कार्य करें तो इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के अनुवाद जैसी चीज अन्य कई सैकडो हजारो विशेषज्ञो और लेखको के सहारे सपादित कर सकते है। लखनऊ के विश्वभारती प्रकाशन ने 'बुक ऑफ नालेज' के ढग पर प्रकाशन आरम्भ किया था। परन्तु आगे पता नही वह पूरा क्यो न हो सका ? अग्रेजी में 'इनसाइक्लोपीडिया ऑफ एथिक्स एड फिलासॉफी' जैसी अद्वितीय वस्तु है। भारत दार्शनिको का देश होकर भी हमारे पास ऐसा प्रामाणिक दर्शन-बृहत्कोष नहीं। उसी प्रकार अग्रेजी 'इण्डिया इअर बुक' 'हू एड हू' के ढग पर हिन्दी में राजकमल डिरेक्टरी निकली है, परन्तु उतनी सचित्र और सम्पूर्ण नही। व्यापारियो के, डाक्टरो के, विद्यार्थियो के, इजीनियरो के उपयोग के सदर्भ ग्रन्थ छपने चाहिएँ। साहित्यिको के परिचय के नाम पर वही आ जाकर 'हिन्दी-सेवी ससार' अकेला है। ऐसी अनेकानेक 'डिरेक्टरीयो' की हिन्दी में आवश्यकता है।

यात्रासाहित्य, पत्र-साहित्य, जीवनी

हिन्दी में राहुल जी, डा० सत्यनारायण, देवेन्द्र सत्यार्थी, भवानीदयाल सन्यासी आदि के गिने चुने अपवाद छोडकर यात्रा साहित्य जिस विशाल मात्रा म आवश्यक है, नहीं मिलता। यह नही कि हिन्दी-भाषाभाषी अनेक देशो की यात्रा न कर आये हो, गत महायुद्ध में ही कई व्यक्ति विदेशो में हो आये, हाल मे कई लोग गये और जा रहे हैं। परन्तु जैसे के० पी० मेनन साहब की दिल्ली-चुकिंग डायरी अग्रेजी में है, या डॉ० श्रीधराणी और कराका की अमराका, चीन आदि के सम्बन्ध में पुस्तकें अग्रेजी में है, या जैसे मराठी में अनन्त काणेकर का पत्रात्मक यूरोप यात्रा-वृत्तान्त 'धुक्यातून लालता 'ज्याकडे', या गुजराती मे काका कालेलकर की कई यात्रा पुस्तकें है जसे हिमालय दर्शन, या बँगला में 'रूसेर चीठी' (रवीन्द्रनाथ) और मानसरोवर पर तथा अन्य देशो पर

कई पुस्तके है, हिन्दी मे क्यो न ये सब अनूदित हो या नई छपें ? अज्ञेय ने अपने युद्धकालीन जीवन और यात्राओ के आधार पर दो पुस्तकें 'यायावर' और 'नीललोहित' (आसाम) लिखी है जो प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं । परन्तु अन्य प्रवासी लेखक मनोरजक रूप से क्यो नही साहित्य के इस विभाग को पुष्ट करते ?

पत्र साहित्य का तो प्राय अभाव-सा है । सुनते है कि प० बनारसीदास जी चतुर्वेदी, प० ब्रजमोहन व्यास आदि के पास बडे बडे पत्र सग्रह है, परन्तु पता नही वे मूल पत्र साहित्यिको के, राजनैतिक कार्यकर्त्ताओ के, नेताओ के, इत्यादि सब पुस्तकाकार क्यो नही सगृहीत कर छापे जाते ? 'सरस्वती' में पहिले द्विवेदी जी के और इधर 'हस' म प्रेमचन्द जी के पत्र अवश्य कुछ अको तक निकलते रहे; बाद में पुस्तकाकार उन्हे निकल जाना चाहिए था । परन्तु शायद अब टेलीफोन और टेलीग्राफ और टेलीविजन के युग में साहित्य का यह पक्ष भी बहुत दुर्बल बनता जा रहा ह ।

जीवनी, आत्म-कथा, सस्मरण, इटरव्यू (भेंट) इत्यादि का जितना विपुल साहित्य हिन्दी में होना चाहिए था उतना नही मिलता । जीवनियाँ है भी तो वही पुराने ढग की जैसे बास्वेल के 'जॉनसन' के पहले अग्रेजी म लिखी जाती थी। विदेशी साहित्यकारो मे लिटन स्ट्रेची, चेस्टरटन, फ्रैंक हैरिस, आंद्रे मोर्वा, एमिल लुडविग, राल्फ फाक्स, ए० जी० गार्डनर, आदि कई नाम गिनाये जा सकते है, जिन्होने उत्तमोत्तम जीवनियाँ और सस्मरण रेखाचित्र लिखे है । परन्तु हिन्दी में एक से एक बढकर नेता और साहित्यकार और कर्मठ व्यक्ति इस देश से उठते जा रहे है और सस्मरण के नाम पर केवल श्रद्धाजलियाँ या सबाष्पोच्छ्वास भावुक पक्तियो के विशेष ऐसी बात नही मिलती, जिन्हे लेने पढने के लिये हिन्दी विदेशियों या अहिदी भाषियो को सीखना पडे ? भारतेन्दु, रत्नाकर, प्रसाद, महावीरप्रसाद जी द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, मदनमोहन जी मालवीय, मोतीलाल नेहरू, चन्द्रशेखर आजाद, गणेशशकर विद्यार्थी, सुभद्राकुमारी चौहान, सरोजिनी नायडू यह सब हिन्दी प्रान्तो के रहने वाली कुछ बडी दिवगत विभूतियो के नाम है जिनकी जीवनियाँ बहुत बडी, स्फूर्तिप्रद और मनोरजक ढग से लिखी जा सकती थी और है । परन्तु फिर वही बात है कि इस दिशा में बहुत कम सोचा गया है । जीवित व्यक्तियो म कई प्रसिद्ध साहित्यिको, राजनीतिज्ञो और अन्य कार्यकर्त्ताओ के विषय मे बहुत कम जानकारी इस रूप में दी गई है । जिन्होने आत्मकथाएँ लिखी है—उन नेताओ को छोडकर अन्यो के विषय में बहुत कम जीवनियाँ उपलब्ध है ? महादेवी या पत या मैथिलीशरण गुप्त की कोई स्वतन्त्र जीवनी हिन्दी में छपी है ? या मानवेन्द्रनाथ राय, आचार्य कृपलानी, नरेन्द्रदेव, राजाजी, पुरुषोत्तमदास टडन आदि की जीवनियाँ, प्रामाणिक, विस्तृत, बडी, मनोरजक कहीं हिन्दी में उपलब्ध है ? जो हाल जीवनियो का है वही इण्टरव्यू के

सम्बन्ध में हैं। इधर हमारे मित्र पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' ने साहित्यिको की कुछ सुन्दर और उपादेय 'इण्टरव्यूएँ' ली है। परन्तु उससे भी अधिक इस दिशा में बडा कार्यक्षेत्र बाकी है। हम आदर्श के तौर पर—विदेशी भाषाएँ दूर रखिये प्रान्तीय भाषाओ में ही लीलावती मुन्शी के 'रेखाचित्रो' (गुजराती), जुगलराम दवे की बालको के 'गाधी जी' (इसका हिन्दी अनुवाद उपलब्ध है), और मराठी मे 'अनौपचारिक मुलाखती' य० गो० जोशी की अपने दोस्त साहित्यिको के व्यग-चित्र आदि—सामने रख सकते हैं।

वैज्ञानिक साहित्य और ऐतिहासिक गवेषणा

इतिहासकारो म तो गौरीशकर हीराचन्द ओझा, जयचन्द्र विद्यालकार, काशी-प्रसाद जायसवाल, राजकुमार रघुबीरसिह इत्यादि व्यक्ति हिन्दी में है, फिर भी वैज्ञानिक साहित्य के क्षेत्र मे बहुत ही कम नाम हम ले सकेंगे। रामदास गौड के 'विज्ञान', और 'भूगोल' और 'उद्यम' जैसी पत्रिकाओ को छोड दें तो इस दिशा मे जितनी आवश्यकता है उतना और उसके अनुसार लेखन करने वाले बहुत कम मिलते है। कभी कोई पदार्थ-विज्ञान पर या गणित या ज्योतिष या एकाध दूसरी पशु-पक्षी-विज्ञान या वनस्पति-विज्ञान पर पुस्तक मिल जाती है, परन्तु केवल उतने से क्या होता है ? यन्त्र-शास्त्र, नृ-विकास-शास्त्र पर, अस्थिशास्त्र पर, वास्तुशास्त्र पर, युद्ध विद्या पर, आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान पर उदाहरणार्थ ग्रन्थिशास्त्र (एडोक्राइनौलौजी) पर कितने ग्रन्थ है हिन्दी में ? इन विज्ञानो के साथ ही साथ तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, कृषि-प्राणी-शास्त्र, आहार-शास्त्र, समाज-विज्ञान, अर्थशास्त्र के कई आधुनिक अग, भू-राजनीति (जिओपौलिटिक्स) आदि आदि कई शास्त्रो और विज्ञानो पर हमें जैसे चाहिए वैसे ग्रन्थ हिन्दी में लिखने, लिखवाने और अनुवाद कराने होगे। हिन्दी में सपादनकला पर, पाककला पर; घडीसाजी, बढईगिरी और दर्जीगीरी पर; रगाई, छपाई और चर्मकला पर, धुनाई, कताई, बुनाई (यान्त्रिक) आदि उपयोगी कलाओ पर पुस्तकें जितनी मात्रा में, जैसी आधुनिक रूप में आवश्यक हैं, बहुत कम मिलती है।

वस्तुत यान्त्रिक-ज्ञान, ऐतिहासिक गवेषणा, शिक्षाशास्त्र, समाज निर्माण सम्बन्धी आँकडे जमा करने का विज्ञान (स्टैटीस्टिक्स) आदि सस्कृति की नव-रचना से निगडित बातो पर तो भारत भर में सभी प्रान्तीय भाषाओ में जो कुछ कार्य हो रहा है, उन सबका एकत्रित लेखा-जोखा रखने वाली सस्था चाहिए और उसका मासिक पत्र हिन्दी में निकलना चाहिए, जो इन अनुसन्धानो को प्रकाशित करे। आखिर हमारे उच्च विज्ञान के विद्यार्थी अपनी गवेषणाओ और रिसर्चों के लिए जर्मन-फ्रेंच-रूसी पढ़ते ही है न ? वैसे हमारे रमण, कृष्णन् 'भाभा', साहा, गुह, साहनी आदि की रिसर्चों का पता लगाने विदेशियो को भी भारती भाषा पढ़ने की बाध्यता

निर्माण करनी चाहिए। परन्तु यहाँ आकर पारिभाषिक शब्दावली पर सब बातें अटक जाती है। और जब तक कोई विद्वान् उसका वैदिक सस्कृत पर्याय सिर खुजलाकर या डा० रघुवीर की धात्वानुगामी पद्धति से खोजे, तब तक हमारी भाषा में 'बॅकोलाइट, प्लास्टिक, पेनिसिलीन, रेडर, युरोनियम' जैसे सैकडो-हजारो शब्द सहज-रूप से छनते हुए गाँव तक पहुँचते चले जा रहे है। इसे कही-न-कही रोकना होगा नही तो हिन्दी का इस गति से दस वर्ष में हिन्दुस्तानी तो दूर इगलिस्तानी बन जाने का डर अवश्य है।

बाल-साहित्य और महिलोपयोगी साहित्य

हिन्दी मे अब इधर बहुत से प्रकाशक भाति-भाँति का सचित्र बाल साहित्य प्रकाशित कर रहे ह। परन्तु बालको के लिए जो साहित्य लिखा जाय वह मनोवैज्ञानिक आधार पर ही होना चाहिए। अमुक वय से अमुक वय तक अनुकरण, क्रीडा, विभूति-पूजा, कल्पना, जिज्ञासा आदि वृत्तियो का धीमे-धीमे मानव-मन में विकास होता रहता है। उन्ही के अनुसार बालको की अपने विश्वास में लेकर उन्हे मोद-सहित बोध देने वाला साहित्य प्रचुर मात्रा में नही मिलता। वैसे कई पत्र बच्चो के, कुमारो और किशोरो के लिए निकल रहे हैं, परन्तु उन सब मे या तो अधिकाश विदेशी पत्रो-चित्रो की जूठन या फिर परी-कथाएँ ही अधिक होती है। आज देश मे जो विचारो की योजनाबद्धता (रेजिमटेशन) युवको मे पाई जाती है, और जो सच्चे जनतन्त्र के लिए अत्यन्त अहितावह है, उसका मूल कारण यह भी है कि हमें बच्चो और कुमारो के लिए जसा साहित्य निर्माण करना चाहिए और देना चाहिए, ये नही पा रहे है। परिणामत कोमल वय में बालको का ध्यान सहसा ऐसी चीजो की तरफ आकर्षित हो जाता है, जो भडकीली और आक्रोशमयी होती हैं। चाहे राजनैतिक हो, चाहे सैनिमाई। जो कुछ लोग बालको के लिए लिख भी रहे है वे अधिक गम्भीर, शिक्षाप्रधान और रूखी चाजें लिख डालते हैं जब कि बालक का मन अधिक रगीन, रसमयी चीजो की ओर आकर्षित होता रहता है।

जो स्थिति बालको के साहित्य की है वही कम-अधिक प्रमाण में महिलाओ के लिए स्वतन्त्र साहित्य की है। हिन्दी के पाठक समाज की संख्या के अनुपात में सबल लेखको की सख्या कम है, इसी कारण पत्र-पत्रिकाओ में अधिकतर उन्ही नामो की पुनरावृत्ति सी होता दिखाई देती है; और लेखिकाओ की सख्या तो और भी कम है। जो गिनी-चुनी लेखिकाएँ हैं भी वे विशेषत: गीत और पद्य की रचना करती हैं। परिणामत. पुरुष लेखक नारी समस्याओ को लेकर पुस्तको का प्रणयन करते है जिनमें वह स्वाभाविक यथार्थता आना सम्भव नहीं होता। महिलाओ के लिए सेकसरिया-साहित्य पुरस्कार हैं, वैसे ही सम्मेलन के साथ साथ एक महिलाओ का विभाग भी

होना चाहिए। अब भारत के इस जागृति-काल में इस प्रकार अर्द्धांग की उपेक्षा साहित्य और संस्कृति के विकास में बडी बाधा होगी। इस प्रकार महिलाओ के लिए महिलाओ द्वारा लिखित, महिला-समस्याओ पर बहुत सा साहित्य, ऊँचा, सबल, उत्तम साहित्य आवश्यक है।

निबन्ध, भाषाशास्त्र, कलालोचन

आचार्य द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल के पश्चात् इधर हिन्दी का निबन्ध-क्षेत्र बहुत सूना हो गया है। अँगुली पर गिने जाने योग्य शैलीकार गद्य-लेखक है। वैसे पत्रकार तो बहुत से है। अहिन्दी-भाषियो को हिन्दी सीखने मे, जो कठिनाई व्याकरण के लिंग-भेद आदि के कारण होती है उसे सुलझाने वाली पुस्तकें स्टैंडर्ड व्याकरण, भाषा-परिचय-ग्रन्थ, पिंगल-अलकार पर सशोधित नये उदाहरणो सहित ग्रन्थ, तथा ललित-कलाओ पर कई ग्रन्थो की बडी आवश्यकता है। काव्यशास्त्र-विनोद में यदि धीमानो का कालयापन होता है, तो उसमें अभिरुचि का सस्करण भी एक बडी आवश्यकता है। वह उपयुक्त पुस्तको के बिना सम्भव नहीं। नृत्य-शिल्प-भास्कर्य, स्थापत्य, चित्रकला आदि पर अभी कई पुस्तको की आवश्यकता है, सगीत और वादन पर अपेक्षत अन्य कलाओ से अधिक पुस्तकें हिन्दी में है। और इस सारे उपयोगी लेखन के मूल में परिभाषा-निर्माण एक बहुत आवश्यक और शीघ्रातिशीघ्र किया जाने योग्य कार्य है।

हिन्दी भाषा और साहित्य की श्री-समृद्धि इन्हीं सब विभागो में अधिकाधिक अध्ययनपूर्ण, सुबोध जनता तक पहुँचने वाली सरल साधिकार ग्रन्थ-रचना से ही हो सकेगी। इस ओर सभी लेखको और साहित्य-सस्थाओ का ध्यान मै आकर्षित करना चाहता हूँ। भावुक कवि और कहानी लेखक तो बहुत है, परन्तु इन बौद्धिक विभागो मे परिश्रमपूर्वक 'जी जान से जुट जाने वाले कई लेखको और प्रकाशको की आवश्यकता है। यह सब किये बिना, यह सब नीव बनाने का और रागबेल डालने का कार्य किये बिना, भवन-निर्माण की केवल शाब्दिक योजनाएँ बनाना या सपने देखना हवा-महल की-सी बात है। आशा है, मेरे इस लेख से हिन्दी के गद्य को अधिक सप्राण, पुष्ट विचारपूर्ण सर्वांगसमृद्ध बनाने की प्रेरणा कुछ उस दिशा में सोचने वालो को मिलेगी और वे अपनी राह की बाधाओ की ओर विस्तृत चर्चा पत्र पत्रिकाओं में अथवा पत्र-व्यवहार द्वारा करेंगे।

२

नाट और आधुनिक समस्याएँ

कुछ आलोचक समझते है कि प्राचीन और नवीन नाटक में कोई मौलिक दृष्टिकोण का अन्तर नही है, केवल युगानुकूल शैली परिवर्तन नवीन नाटको में हुआ है। यानी जैसे पुराने जमाने मे लम्बे लम्बे चोगे पहिने जाते थे, सो अब उनके बजाय छोटे कोट और कपडे आ गये है। उसी प्रकार केवल शैली का अन्तर नये नाटको में व्यक्त हुआ है। परन्तु यह बात सही नही। प्राचीन और नवीन नाटको में मौलिक भेद नाकटकार के दृष्टिकोण, दर्शको की अभिरुचि तथा रगमच और अभिनेताओ के नये रूपो के कारण अवश्यम्भावी रूप से घटित हुआ है। इस अन्तर को अधिक स्पष्टता से समझने के लिए कुछ और निकट से उसका अध्ययन आवश्यक है।

प्राचीन नाटककार मुख्यत कवि थे। उनकी जीवन और जगत को देखने की दृष्टि रसवादी व्यक्ति जसी थी। इस कारण से सस्कृत नाटको में तथ्यपूर्ण घटनाओ की अपेक्षा काव्य मय प्रसगो की रचना अधिक है। चुने हुए प्रभावपूर्ण बोल-चाल के वाक्यो की अपेक्षा लेखको का भाषा ज्ञान बहुश्रुतत्व और साहित्य समृद्धि जिसमें प्रकट हो, ऐसी समास-बहुल भाषा की योजना अधिक है। प्रकृति वर्णन भी नाटक की नाटकीयता को बढ़ाने की दृष्टि से नही, परन्तु लेखक की ललित काव्य-शक्ति को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया गया है। अकेले भास को छोडकर अन्य कोई नाटक कार प्राचीन काल में 'गमच के विषय में जागरूक नही था।

परन्तु नवीन नाटको में लेखक केवल कवि नही है। बल्कि कई नाटककार है जो केवल गद्य ही लिख सकते हैं। आदशवाद से यथाथवाद की ओर नाटककारो की दृष्टि मुडते ही नाटक का काय क्षेत्र बदल गया। अब नाटक इब्सन और शॉ के नाटको की भाँति सामाजिक आलोचना का माध्यम बन गया और इसी कारण उसके पात्रो में मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता बढ गई। नवीन नाटककार कवि की भाँति रस-ग्राहक ही नहीं रहा परन्तु इसके सामाजिक अधिष्ठान का ज्ञाता और प्रवक्ता बन गया।

आधुनिक नाटक मे व्यक्ति केवल धीरोदात्त, सर्व-गुण सम्पन्न नायक या विभूति न रहकर सामाजिक व्यवस्था का एक अश या प्रतीक बन गया। अर्थात् लेखक की आलोचना का लक्ष्य कुछ व्यक्ति उतना नही जितना उसके द्वारा ध्वनित समाज व्यवस्था है। समाज में जो प्रतिष्ठा (रेसपेक्टिबिलिटी) नाम की एक झूठी चीज मूल्यवान मानी जाती है, इस पर सीधा आघात इब्सन ने और उसके शिष्य शॉ ने भी

किया। रिचनर्टन ने 'दि जार्जीयन लिटरेरी सीन' के तीसरे अध्याय मे लिखा है, यद्यपि विक्टोरिया के काल में अग्रेज उपन्यासकार और प्रचारको ने समाज-व्यवस्था की आलोचना की थी फिर भी उन्होने कभी भी जो अनुल्लेखनीय है, उसका उल्लेख नही किया। नवीन नाटक मे न केवल उसका उल्लेख है परन्तु उस पर आग्रह भी है।

आधुनिक नाटककार ने अपने सिद्धान्तो के क्रान्तिकारी प्रचार के लिए नाटक को साधन बनाया तब सामाजिक ढोग का, दम्भ स्फोट का, प्रतिष्ठा का पर्दाफाश कर यह सिद्ध किया कि समाज का नग्न यथार्थ रूप कितना सडा-गला हुआ है। और जिस मध्य वर्ग की नींव पर यह समाज-नीति आश्रित है वह स्वय कितनी खोखली, दीमक लगी हुई और भुसभुसी है। रिचनर्टन ने अपनी उपरोक्त पुस्तक म कहा है कि हमारे जीवन के सब आध्यात्मिक स्रोता विषाक्त हो गये हैं और हमारा टुटपुजिया समाज ऐसी जमीन पर खडा है जो कि झूठ के मारक कीटाणुओ से परिव्याप्त है।

आधुनिक नाटककार की समाज-क्रान्ति करने की जो यह इच्छा हुई सो यह काम केवल व्याख्यान या उपदेश से नही हो सकता था। उसे मृतप्राय सुप्त समाज को झकझोरकर जगाने का काम करने के लिए व्यग और विनोद का सहारा लेना पडा। डब्ल्यू० एस० गिलबर्ट ने हँसी-हँसी में कई सगीत मय प्रहसनो में समाज की अनीतियो पर प्रहार किया और यह दिखाया कि ऊपर-ऊपर से बडी पवित्र और सभ्य बनने वाली सफेदपोशो की दुनिया भीतर से कितनी कुत्सित और विद्रूप है।

इसी काय के लिए आवश्यक था कि नाटककार का बौद्धिक आधार सुस्पष्ट हो और तर्क का उपयोग वह ऐसी खूबी या अनुभव से करे कि वह रूखा न जान पड़े। स्वय इब्सन ने कहा है—"अब तक हम लोग गत शताब्दी की क्रान्तिकारी विचारो की जूठन पर जीते आये हे और उनकी जुगाली करते-करते थक गये है। हमारे विचारो में अब नया आशय और नवीन स्पष्टीकरण आवश्यक है जिसके लिए एक ही बात अपेक्षित है और वह है जनसाधारण के मानसिक जगत मे आमूल क्रान्ति उत्पन्न करना।"

आधुनिक नाटककार के अन्तरग परिवर्तन के साथ-साथ बहिरग परिवर्तन भी घटित हुआ—

(१) पुरानी अनेक दृश्यो और अको वाली रचना के स्थान पर एकाकी एक दृश्य वाली रचनाएँ प्रचलित हुईं।

(२) स्वगत या एक-मुखी भाषणो के लम्बे-लम्बे नाट्य सकेतो से नाटक मुक्त हुआ।

(३) सभाषण सरल, स्वाभाविक और छोटे-छोटे वाक्यो से भरे प्रयुक्त होने लगे।

(४) चरित्रो की भाषा आलकारिक न रह सकी, शब्दानुप्रास और श्लेषो के

चमत्कार की आतिशबाजी जो पहले सभी पात्रो के मुख से दिखाई जाती थी वह समाप्त होकर, वही चरित्र नाटकीय नही, बोल-चाल की भाषा बोलने लगे।

(५) यह बहिरंग परिवर्तन केवल फैशन के रूप में घटित नही हुए परन्तु नाटक के अन्तरंग परिवर्तन के साथ-साथ यह परिवर्तन भी अपरिहार्य रूप से प्रयोग मे लाये गये। नाटक के विषय पौराणिक-ऐतिहासिक न रहकर अधिक सामाजिक होने लगे।

अन्य साहित्यिक प्रकारो की भाँति नाटक भी जनता की अभिरुचि तथा समाज में प्रचलित चिन्ताधाराओ से अप्रभावित नही रह सकता। ग्रैनविल बार्कर नामक प्रसिद्ध नाट्य-समीक्षक ने 'ए शनेल थियेटर' नामक पुस्तक म लिखा है कि "अब नाटककार नाटक को केवल क्षणिक मनोरजन न समझे परन्तु एक ऐसी कला समझे जो कि अन्य ललित-कलाओ के समकक्ष लाई जा सके और उन्ही के समक्ष अधिक गम्भीर अर्थ वाली बने।" लोकाभिरुचि में शामिल न होकर नवीन नाटककार उस अभिरुचि पर शासन करने वाला मार्ग दर्शक बन रहा है। मनोरजन का स्थान विचार-प्रक्षोभन ने लिया है। यही आधुनिक नाटककार की प्रधान विशेषता तथा जिम्मेदारी है।

युगीन सत्य के ज्ञान और निरूपण के कारण आधुनिक नाटककार का दृष्टि-कोण शोकान्त, सुखान्त तथा प्रश्नात नाटको के प्रति आमूल बदल गया है। चरित्रो के जैसे धीरोदात्त और खलनायक जैसे कटे कटाये साँचे नही होते, उसी प्रकार से जीवन का कोई क्षण पूर्णत एकरस नही होता। यो जीवन को एकरग बनाना जीवन का यथार्थ चित्र न प्रस्तुत करके उसका निरा 'पोस्टर' या विज्ञापन-चित्र प्रस्तुत करने के समान है। ब्रेरट के शब्दो में "अब कोई कारुणिक नाटक सुख शून्य नही है, और कोई भी सुखान्त करुणाशून्य नही।"

नाटक किसी जमाने म राजा को खुश करने या पुरोहित के प्रचारार्थ रहा हो, अब मध्य-युग का अभिनेतावाला नाटक भी बदलकर अब नाटककार प्रधान नाटक बन गया है। सन् १६४७ के दिसम्बर में इन्दौर में नन्दलालपुरा थियेटर में आचार्य अत्रे की अध्यक्षता में एक मनोरजक मराठी वाद-विवाद में मैने भाग लिया था। विषय था 'नाटक में नट की अपेक्षा नाटककार प्रधान है।' विषय का आरम्भ प्रो० बोरगाँवकर ने किया था। और विरोध में मैने कहा कि सर्वसाधारण प्रेक्षक जनता, कम से कम हमारे देश में अभी इतनी शिक्षित नही हुई कि वह नाटककार के नाम से प्रभावित होकर नाटक देखने जाय। वस्तुत वह अभिनेता अभिनेत्रियों के नाम से ही अधिक प्रभावित होती है। परन्तु यह स्थिति कोई बहुत शुभ नही है।

नवीन नाटको में रूढ़ियो के प्रति विद्रोह है। नाटककार नाटक कम्पनी वाले

का भाडे का नौकर नही होता। यद्यपि फिल्म क्षेत्र में यही नियम चालू है। शा ने लिखा है कि—"I can no more write what they want than Joachim can put aside his fiddle and oblige a happy company of bean feasters with a marching tune on the German concertina They must keep away from my plays That is all" यह शॉ कह सके क्योकि इग्लण्ड में नाट्य-दर्शको का दृष्टि-कोण इतना प्रबुद्ध और जागरूक हो सका है। इसका अर्थ यह नही होता कि नाटक-कार नाटक न लिखकर प्रबन्ध या 'थीसिस' लिखते है। आधुनिक नाटककार के विद्रोह का एक रूप यह है कि प्रचलित रगमच की दासता उन्होने स्वीकार नही की। नाटक में अमुक हो, अमुक न हो, यह नियन्त्रण अब नाटककार सहने के लिए राजी नही है। अर्न्स्ट टालर के एक नाटक में सर्कस की भाँति दृश्य है, तो दूसरे म जेल के अलग-अलग कमरो के कैदियो के सवाद से भरा एक पूरा अक है। शॉ के एक नाटक में दन्तवैद्य के दवाखाने का दृश्य है तो सामरसेट मौम के एक नाटक का पहला अक नाई की बाल काटने की दूकान मे घटित होता है। स्पष्ट है कि रूढ सकेतो की इन नाटककारो ने अवहेलना की है। यथार्थता के चित्रण में इस प्रकार के बन्धन किसी प्रकार से सहायक नहीं होते।

आधुनिक नाटककार के दृष्टिकोण के कारण उसकी समीक्षाएँ भी बढ गई है। रासें और मोलिएर के आदर्शों को जैसे लिलो और लेसिग ने कभी छोड दिया था, वैसे बेडे कादण्ड और पिरैंदेलो ने इब्सन और शॉ के आदर्शों से आगे कदम बढ़ाया है। चेखाव और स्ट्रिडबर्ग में आधुनिक नाटककार की विविध समस्याओ का सामाजिक और मनोवैज्ञानिक रूप अपने पूरे निखरे रूप में मिलता है। एरिक काहलेर ने स्ट्रिड-बर्ग के बारे में लिखा है कि इब्सन के नाटको में मानवी सदसद्विवेक (कॉन्शस) का भूत जैसे सारे दृश्यो पर छाया रहता है। स्ट्रिडबर्ग के 'चेंबर प्लेज' मे नैतिक समस्या समीक्षाएँ जसे घुलकर एक स्थायी दलदल म फँस गई है। यह जीवन की अनिवार्यता व अपरिहार्यता की दलदल है। अब इलजाम या दोष किसी एक पर नही मढ सकते। व्यक्तियो के सम्बन्ध और चरित्र जैसे अपनी वैयक्तिकता खो बैठे है और एक सर्व-सामान्य मनोवैज्ञानिक ह्रासोन्मुखता के कोहरे के साथ बहते है। इस गर्त का केन्द्र भी कही मूर्त रूप से नही दिखाई देता, यानी वह सर्वव्याप्त है।" स्ट्रिडबर्ग के साथ-साथ ऐतिहासिक अनिवार्यता का एक नया नैश्चित्यवाद मानो आधुनिक नाटककार पर छाता जा रहा है। नये नाटक जीवन के चित्र मात्र न रहकर जीवन की चौखट भी बनते जा रहे है। अनुभूति का विजडीकरण भी उनमें है, नास्तित्व की अन्ध अनिवार्यता भी है।

छपाया था तब मैंने लेखक को उसे पत्र में लिखा था वैसे क्या वर्तमान घटनाओं के प्रति ऐसा अनासक्त, निरपेक्ष भाव सम्भव है ? क्या वह वांछनीय भी है ? 'हिटलर' 'नेपोलियन', 'तमूर', 'औरंगजेब' शब्दों के साथ हमारी कुछ मनोवैज्ञानिक मान्यताएँ निश्चित प्राय होती है । शॉ के 'मन ऑफ डेस्टिनी' में नेपोलियन के चित्र की भाँति लेखक एक नया ही लोक-विलक्षण दृष्टिकोण उपस्थित करने का अधिकार अवश्य रखता है । परन्तु यदि उसकी धारणा जनसाधारण की धारणा से विपरीत होगी तो रसापकर्षक वह अवश्य होगी, जैसे तेलुगु लेखक मुद्दूकृष्ण के अशोकवन का रावण या भारत भूषण अग्रवाल के 'पलायन' का बुद्ध । इन नये रूपों पर सहसा श्रद्धा इसलिए नही जमती कि वे हमारी धारणाओं के विपरीत हैं । पर रस निर्माण में क्या ऐसी श्रद्धा आवश्यक है ?

आधुनिक नाटककार श्रद्धा के मूल पर आघात करता है । वह चरित्र को—चाहे ऐतिहासिक हो या वर्तमान—अपने दृष्टिकोण से नहीं, पर युग के सामाजिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखता है । सम्भव है उसके वैसे देखने में गलती हो । सम्भव है कि युग का दृष्टिकोण स्वयं बदल जाय । परन्तु उससे ऐतिहासिक घटनाओं का तथ्य तो नही बदलता ।

परस्पर सम्बन्ध किसी तर्क-नियम से नहीं, परन्तु कला के अपने तर्क से नियन्त्रित होंगे । इसलिए एरिक बटले ने अपने 'दी माडर्न थियेटर' ग्रन्थ में पृष्ठ १८ पर बिलकुल सही कहा है कि 'तर्क वाले द्विधाकरण से जो आधुनिक नाटकों के स्कूल और टाइप निर्णीत किये जाते हैं, वे गलत है ।' ये दो-दो हिस्से करने की बात बहुत चक्कर में डालने वाली है, जैसे—

जीवन का टुकडा	विरुद्ध	परम्परा
यथार्थवाद	विरुद्ध	कल्पना
सामाजिक	विरुद्ध	वैयक्तिक
राजनीतिक	विरुद्ध	धार्मिक
प्रचारात्मक	विरुद्ध	सौन्दर्य-प्रधान
गद्यात्मक	विरुद्ध	काव्यमय
पर-लक्षी	विरुद्ध	आत्म-लक्षी

इसी प्रकार की कटी-कटाई आलोचना वाले बाह्य-अन्तर कला की शब्दावली में कलाकार के दृष्टिकोण सीमित करना चाहते है । परन्तु यह सोचने का सही तरीका नहीं है । जीवन तथा जीवन्त चिंतन यों दो-दो हिस्सों में बाँटा नही जा सकता । ये दो रुख इस प्रकार परस्पर-सम्बद्ध है कि इन्हे सिक्के के दो पहलू नही कहा जा सकता ।

ऐतिहासिक विषय हो चाहे वर्तमान नाटककार के दृष्टिकोण का निर्णय करने वाली वस्तु लेखक की अपने स्वय के प्रति ईमानदारी, यानी अन्तत युग के और 'सामाजिक' के प्रति ईमानदारी ही है।

प्रत्यक्ष उदाहरण लेकर म अपनी बात स्पष्ट करूँ—मेरे मित्र की एक एकाकी-जैसी नाटकनुमा रचना है। नाटक 'नुमा' मैने जान बूझकर कहा है, क्योकि यद्यपि नाटक के कुछ उपकरण इसमें अपनाये गये है, फिर भी उसे नाटक नही कहा जा सकता, चल-चित्रपटो में जिस प्रकार एक दृश्य के बाद दूसरे आँखो के आगे से सरकते जाते ह, वसे जीवन के विविध अगो और क्षेत्रो से चुने हुए कुछ दृश्य इसमें अकित है, यह चुनाव किसी मतलब को लेकर हुआ हे, वह मतलब, नाटककार के मन से आध्यात्मिक या कहे दार्शनिक है। नाटक यह साहित्य-प्रकार ऐसी दार्शनिक विवेचनाओं के लिए उपयुक्त माध्यम है अथवा नही, यह प्रश्न यद्यपि विचारणीय हे, फिर भी प्राचीनकाल में 'भास' आदि के कई प्रकीण 'क नलिपटर्स' से तथा अति आधुनिकतम विदेशी नाट्य-परम्परा में उसी अति प्राचीन कला की पुनरावृत्ति (यथा ईशरवुड, ओकेसी, सिज आदि की पद्य-नाटिकाएँ) देखत हुए यह कहा जा सकता है कि मानव प्रकृति के आन्तरिक सघर्षों और घात-प्रतिघातो का उत्तम अकन मच पर हो सकता है। परन्तु अब तक यह 'चरित्रचित्रण' नामक गोलमोल शब्द से परिभाषित क्रिया पात्रो के, घटनाओ के तथा किसी न किसी 'एक्शन' के द्वारा बरसाई जाती थी। अरस्तू का भी इसी 'क्रिया की अन्विति' पर बहुत जोर था। अब इधर हिन्दी में जो अनभिनीत और अनभिनेय-से कई नाटक, एकाकी आदि दिखाई पड रहे हे उनम क्रिया के बदले सम्भाषणो से वह कार्य पूरा किया जाता है। कई तथाकथित दार्शनिकता और रहस्यवाद का पुट लिये नाटक या कई वसे ही नाटकीय सवाद (अन्धकार, गृहत्याग और विक्रमादित्य के कई स्थल, मिसाल की तौर पर काफी होगे) देखते हुए आधुनिक हिन्दी एकाकी न पात्रो के विशेषीकरण की ओर ध्यान देता है, न क्रिया की किसी समस्यात्मकता की ओर—वह केवल सवादो की चतुराई और चमत्कार से समाधान मान लेता है। इसे नाटक के क्षेत्र में छायावाद कह लीजिये।

पात्र चाहे वे किसी अनपढ़, अछूत, अशिक्षित वर्ग के हो, चाहे सुसस्कृत कहलाने वाले ज्ञान दम्भ-गरिमावृत वर्ग के चाहे वह धनिया हो चाहे वह धन्ना सेठ, सब एक-सी काव्य-मयी वाणी में 'प्रसाद' जी की-सी सस्कृत-परिष्कृत भाषा में ऊँची से ऊँची फलासफी बघारने में, जीवन और प्रेम और सुख और आनन्द की व्याख्या और टीका में सलग्न रहते है। नाटक अब सवादो मे आकर सिमिट गया है, और सवादों में जितनी अधिक अतीन्द्रिय, (एब्स्ट्रैक्ट) दुरूह वाक्य रचना होती है, उतना ही बड़ा नाटककार माना जाता है। जिस भाषा का अपना रगमच नही उसमे अनिवार्य

रूप में नाटक की यही स्थिति होगी। सुविख्यात नाटककार इब्सन के 'भूत' नाटक पर पश्चिम में जो आलोचना हुई थी उसमें क्लेमेण्ट स्काट का यह वाक्य बहुत प्रसिद्ध था, जिसकी बर्नार्ड शॉ ने बाद मे अपने 'इब्सेनिज्म के लुब्बेलुबाव' म बहुत कटु आलोचना की—

"There was a time when brilliant French dramatists were considered too argumentative and blamed as being talkey-talkey But ye gods ! only hear Ibsen talk He never leaves off It is only one incessant stream of talk and not very good talk either For the most part, it is all dull, undramatic, uninteresting verbosity formless, objectless, pointless'

मध्ययुगीन मच-परिस्थितियाँ है। और नाटककार देखता ह आधुनिकतम विदेशी सवाक् चित्रपट। दोनो के मिश्रण का परिणाम है ये रहस्यवादी-नुमा एकाकी, जिनमें घटना के नाम पर ऐसे असम्भव दृश्य होते हैं कि नदी में नाव चल रही है, चाँदनी छाई हुई है, या कुरुक्षेत्र पर युद्ध हो रहा है, या जैसे एक गरीब भिखारी बग्घी के नीचे कुचला जाता है, बग्घी उस पर से साफ निकल जाती है, अगर यह कही अभिनीत हुआ तो रोज का भिखारी सचमुच में मच पर मरना चाहिए (पुराने रोमन ग्लैडियेटर द्वन्द्व-युद्धो की तरह) या कि वह राममूर्ति की तरह पहलवान होना चाहिए जो पीठ या सीने पर से भरी हुई घोडा गाडी का पहिया चलाने का चमत्कार दिखाये। भरत मुनि को बहुत अच्छा मच-ज्ञान (Stage-sense) रहा होगा, तभी उन्होने ऐसे दृश्य जुगुप्साप्रद बतलाकर मच पर से बहिष्कृत कर दिये थे। आशय, हिन्दी नाटक मे भी अन्य आधुनिक नाटको की भॉति घटनाभाव है।

अब रहे सवाद, उनमें इस नाटक के प्रधान पात्र की आत्मा बीच-बीच म पथिक से बोलती है। 'मौरेलिटी प्लेज, (इग्लैण्ड की रास लीलाओ) मे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मूल रूप में आकर वादविवाद करते थे, मैंने इसी प्रकार के एक बहुत वैज्ञानिक आधुनिक सस्करण, एवरी नाव के एक रूसी एकाकी का अनुवाद 'आत्मा के मच पर' नाम से 'विशाल भारत' में नौ साल पहिले प्रकाशित कराया था, उसमे स्टेज को ही जिगर का आकार दिया गया था, और नायक के तीन रूप एक दूसरे से लडते दिखाये गये थे। यह ठीक है कि मनोवैज्ञानिक द्वन्द्वो का चित्रण 'स्वगत' द्वारा दिखाने की परिपाटी अब अस्वाभाविक और त्याज्य हो गई है। (देखिये, विशेष विवरण के लिए सेठ गोविन्ददास की पुस्तिका 'नाट्यकला मीमासा') यह भी ठीक है कि आत्मा के कई रूप नाटक में भिन्न-भिन्न नकाब पहिने दिखाने में कोई आपत्ति नहीं। परन्तु

जब मच पर पात्र एक हो, तब आत्मा का उसी पात्र से बोलना कैसे दिखाया जायगा ? या तो एक कुशल नाना पक्षी बोलीविशारद की भाँति वही अभिनेता अलग-अलग आवाज से बोले, या प्राचीन उपरूपको की भाँति आकाशभाषित अथवा नेपथ्य-पाठ का आश्रय लिया जाय जैसे आजकल नत्य कार्यक्रमो में पर्दे के पीछे से 'अनाउन्स-मेन्ट्ल' या परिचय-घोषणाएँ की जाती है।

इस प्रकार से आधुनिक नाटककार का दृष्टिकोण और उसकी नयी समस्याएँ उसके टेकनीक को भी प्रभावित करती है। इस दृष्टि से रगमच और बोलपट के बीच स्पर्द्धा की भी बात की जाती है। प्रोफेसर एलरडाइस निकोलने अपनी पुस्तक 'फिल्म और थियेटर' में कहा है कि—

"The film has such a hold over the world of reality, can achieve expression so vitally in terms of ordinary life, that the realistic play must surely come to seem trivial, false and inconsequential The truth is, of course, that naturalism on the stage must always be limited and insincere .. Pursuing this path, the theatre truly seems doomed to inevitable destruction"

(फिल्म की यथाथ जगत् पर ऐसी पकड होती है और साधारण जीवन के नाते इतनी सजीव अभिव्यजना वे कर सकती है कि वास्तववादी नाटक भी उनके आगे हलके, मिथ्या और प्रलापहीन जान पडेंगे। सत्य यह है कि प्रकृतिवाद रगमच पर साथ ही सीमित और अप्रमाणित सा व्यक्त होगा इस माग से तो रगमच अवश्य नाश की ओर अग्रसर जान पडता है।)

यह बात निर्विवाद है कि भारत में बोलपट के वर्तमान रूप से ऊबकर जनता अधिक उत्तम नाटक अवश्य देखना चाहती है। और यद्यपि रगमच के सभी अच्छे अच्छे अभिनेता-अभिनेत्रियाँ रजत-पट पर चली गई हैं, फिर भी इस दिशा में बहुत कुछ करणीय है, जैसे पृथ्वीराज कपूर और बलराज साहनी ने हिन्दी में, या केशवराव दाते और रागणेकर-अलतेकर ने मराठी म या अहीन चौधरी और शिशिर भादुरी ने बगला में कर दिखाया ह।

३

संस्कृत एकांकी के प्रकार

भरत के बाद नाट्य-शास्त्र विषयक ग्रन्थो में 'दशरूप' बहुत महत्त्व का ग्रन्थ है। इसका कर्ता विष्णुपुत्र धनजय परमार राजा दूसरा वाक्पति मालव-पुज (९४७ से ९९५ ईस्वी तक) के समय हुआ। इस दशरूप ग्रन्थ पर 'अवलोक' नाम की एक टीका है। उस टीका का कर्त्ता अपना नाम विष्णुपुत्र लाभ धनिक बताता है। या तो वह वही धनजय है या उसका भाई है। प्रतापरुद्रीय यशोभूषण ग्रन्थ इसी आधार पर लिखा गया है। चन्द्रशेखर के पुत्र विश्वनाथ कविराज ने लिखा हुआ 'साहित्य दर्पण' (१५०० ईस्वी) नाटक के अगो पर और प्रकाश डालने वाला एक ग्रन्थ है। इन सब ग्रन्थो से प्राचीन एकाकी के विषय में जो जानकारी मिलती है वह इस प्रकार से है।

नाटक के विभाजन को साधारणतया 'अक' कहते थे। 'सट्टक' नाम के उप-रूप में अक को जवनिकान्तर सज्ञा दी गई है। भरत के अनुसार अक यह रूढि शब्द है, यानी उसकी उत्पत्ति उसे ज्ञात नही थी। दशरूप पर अवलोक टीका का कर्त्ता कहता है कि अक शब्द का मूल अर्थ गर्भाशय है और जिसमें पात्रो के मानसिक भाव और अवस्थाएँ व्यक्त होकर उनका अलग अलग रूपो में आविष्करण होता है और सविधानक का विकास होता है उस विकास को अक कहते है। वैसे तो दो अको के बीच में जो दीर्घकाल बीतता है उसे सूचित करने वाले अश को अर्थोपक्षेपक कहते है और वे पाँच प्रकार के थे—(१) विष्कभक, (२) चूलिका, (३) प्रवेशक, (४) अकावतार और (५) अकमुख। जैसे यूनानी नाटक में 'प्रोलोग' होता था सस्कृत नाटको में 'अकमुख' या 'अकास्य' होता।

आधुनिक एकाकी के निकट आने वाले सस्कृत नाट्य-प्रकार है—व्यायोग, प्रहसन, भाण, वीथी, 'नाटी' या नाटिका, गोष्ठी, सट्टक, नाट्य रासक, प्रस्थान या प्रकाशिका, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, श्रीगादित, विलासिका, प्रकरणिका और हल्लीश। इनका विस्तार-वर्णन इस प्रकार है।

व्यायोग

डिम की भाँति व्यायोग भी लौकिक नाट्य-प्रकार है। इसमे के पात्र एक दूसरे को परास्त करते है (यानी 'व्यायुज्यते')। इसका कथानक प्रख्यात होता है। कथानक केवल एक दिन के समय में समाप्त होना चाहिये। इसमें युद्ध और कलह

बहुत बड़े प्रमाण पर दिखाये जाते है। इसमें स्त्रियो का पार्ट नही होता। कौशिकी वृत्ति, गर्भ और विमर्श दो सधि और हास्य और शृगार वर्ज्य किये जाते है। भरत और साहित्यदर्पणकार के मत से इसमे का नायक राजर्षि या देव होता है। दशरूपककार के मत से वह मनुष्य होता है। इसमें एक ही अक होता है और उसमें की नादी चैतन्य चन्द्रोदय के समान नेपथ्य के पीछे से पढ़ी जाती है। भास के नाटको में व्यायोग के कई रूप दिखाई देते है। साहित्य-दर्पणकार ने 'सौगन्धि काहरण' व्यायोग का उदाहरण दिया है।

प्रहसन

यह भी प्राचीन लौकिक नाटक है। इसका कथानक नाटककार के नित्य व्यवहार मे से लिया जाता है। इसमें सदा लुच्चे, बदमाश, झूठे लोगो मे प्रचलित कलह, विग्रह, बदमाशी आदि के चित्र मुख्यत चित्रित किये जाते है। वृत्तियो मे कौशिकी और आरभटी दो वृत्तियाँ वर्ज्य की जाती है और सधियो में से मुख और निवहण दो ही सधियो का उपयोग होता है। इसमें का मुख्य रस हास्य है फिर भी इसमें बीच-बीच में लास्यागो और वीथ्यगो का भी प्रयोग करते है, प्रहसन क दो प्रकार है—शुद्ध और सकीर्ण। दशरूपकार के अनुसर जिसमें वीथ्यग का प्रयोग होता है उसे सकीण प्रहसन कहते है। दशरूपककार और साहित्यदर्पणकार ने प्रहसन का विकृत नाम का एक तीसरा प्रकार भी बताया है। उसमें हीजडे और दासदासी अपनी शृगार-चेष्टाएँ दिखलाते है। प्रसाद ने अपने ध्रुवीचाविनी में इसीलिए हीजडे-बौने आदि पात्र दिखलाये है। साहित्यदपणकार के अनुसार प्रहसन मे सिफ एक अक होना चाहिए और विष्कभक और प्रवेशक नही होने चाहिएँ। 'कदर्पकेलि', शुद्ध प्रहसन का उदाहरण है और 'धूर्त चरित' और 'लटकमेलक' सकीण के।

भाण

भाण भी लौकिक उत्पत्ति वाला नाटक है। इसका कथानक स्वतन्त्र होता है और वृत्ति भारती होती है। कौशिकी इसमें वर्जित है। सधियो में से मुखसधि और निवहणसधि सिर्फ काम मे लाते है। वीररस इसमें प्रधान होता है। शृगार कभी-कभी सहयोगी रस की तरह आ सकता है। इस नाटक में एक ही अभिनेता होता है। वह नट विट होता है। वह अपने कुछ अनुभव आकाशभाषित के रूप में बतलाता है। भाव मूक नाट्य या नृत्य से परिणत है, इस कारण उसमे लास्याग का उपयोग करते हैं। साहित्यदर्पणकार ने 'लीलामधुकर' भाण का उदाहरण दिया है।

वीथी

भाण की तरह ही है। इसमें अलग-अलग रस माला रूप में एकत्रित किये

जाते हैं। वीथी में कौशिकी वृत्ति का उपयोग होता है ऐसा दशरूपक और साहित्य-दर्पण कहते है परन्तु भरत उसमें इस वृत्ति को वर्ज्य मानता है। मुखसंधि और निर्वहणसन्धि इसमें होती है और सब अर्थ प्रकृतियाँ इसमें आती है। मुख्य रस शृंगार होता है। वीथी में दो नट होते हैं। डाक्टर भाडारकर ने प्रकाशित की हुई मालतीमाधव की टीका में किसी विख्यात ग्रन्थकार का आधार देकर जो कहा गया है कि इसमें उत्तम, मध्यम और अधम ऐसे तीन नट होते है वह ग्रन्थकार भरत ही है ऐसा कहा गया है। साहित्यदर्पण में वह भरत नही अपितु कोई दूसरा ग्रन्थकार है ऐसा ध्वनित किया है। 'मालविका' वीथी का उदाहरण कहा गया है।

नाटिका

भरताचार्य ने 'नाटी' नाम का एक प्रकार बताया है। नाटिका, नाटक और प्रकरण का मिश्रण होता है। इसका कथानक कवि-कल्पित होता है। इसकी वृत्ति कौशिकी है और सन्धियो म से विमर्श का उपयोग इसमें नही करते। इसम का मुख्य रस शृंगार है। इसका नायक पौराणिक कथा मे से लिया हुआ कोई राजा होता है। उसमें की नायिका अन्त पुरवासिनी, नत्यगीत मे अपना समय बिताने वाली राज-कन्या होती हैं। इसमें एक से अधिक अक हो सकते है। नाटिका का नाम नायिका के नाम पर दिया जाता है, जैसे 'रत्नावली'। बालरामायण में 'नाटिका' का अर्थ 'विदूषकी' दिया गया है।

गोष्ठी

इस एकाकी में हलके दर्जे के नौ या दस पुरुष और पाँच या छ स्त्रियाँ दिखाई देती है। इनमें कौशिकी वृत्ति होती है और सन्धियों में से गर्भ और विमर्शवर्ज्य होते है। 'रैवतमदनिका' इसका उदाहरण है।

सट्टक

प्राकृत में लिखी हुई इस नाटिका में प्रवेशक और विष्कभक नहीं होते। इसम के अक को अक न कहकर जवनिकान्तर कहते है त्रोटक की तरह से सट्टक भी एक प्रकार का नृत्य है। राजशेखर की 'कर्पूरमजरी' इसका उदाहरण है।

नाट्य-रासक

नाट्य-रासक बहुता लिलियस्थितिपूर्ण एकाकी है। इसमें नायक उदात्त और उपनायक पीठमर्द होता है। नायिका वासकसज्जा होती है। मुख्य रस हास्य और बीच में शृंगार भी मिला दिया जाता है। अलग-अलग लास्यागो का भी इसमें उपयोग किया जाता है। मुख और निर्वहणसन्धियुक्त सट्टक को नर्मवती', और इन दोनो के साथ साथ गर्भ और विमर्श सन्धियुक्त नाटिका को 'विलासवती' कहते हैं। यह एक प्रकार का मूकनाट्य और मूकनृत्य होता है।

प्रस्थान

प्रस्थान या प्रस्थानक द्व्यंकी होता है। इसमें के पात्र दासदासी होते हैं और इसमें एक प्रकार के ताल, छंद और विनोद होते हैं। भारती और कौशिकी दोनो वृत्तियों का उपयोग करते हैं। बहुत सी मदिरा पीने के कारण नाटक में गुनाह कबूलवा लिया जाता है। 'श्रृंगारतिलक' इसका उदाहरण है। टैगोर ने इसे ही 'प्रकाशिका' कहा है।

उल्लास्य

इस एकाकी का कथानक पुराणेतिहास से लिया जाता है। नायक उदात्त होता है। शिल्पक के विविध अंक उसमें प्रविष्ट किये जाते हैं। हास्य, श्रृंगार और करुण रस प्रधान हैं। उल्लास्य में युद्ध और अग्रगीतो का बडा उपयोग होता है। कथानक सम्बन्धी संवाद पर्दे के पीछे होते हैं। 'देवी महादेव' इस प्रकार के नाटक का उदाहरण है।

काव्य

काव्य में भी एक अंक और बहुत सा हँसने का मसाला होता है। आरभटी वृत्तिवर्ज्य होती है। अलग अलग तरह के गीत जैसे खंडमात्रा, द्विपदिका और भानलिसिका उपयोग किया जाता है। इसमें एक सुन्दरी वेश्या आती है और बहुत से श्रृंगारपूर्ण भाषण होते हैं। 'यादवाभ्युदय' इसका उदाहरण कहा गया है। अवलोक टीका के अनुसार भी एक तरह का मूक नृत्य था।

प्रेंखण

इस एकाकी का नायक हीन जाति का होता है। नाटक में युद्ध और क्रोधपूर्ण भाषण होते हैं। विष्कंभक, प्रवेशक और सूत्रधार नहीं होते। नांदी और प्ररोचना पर्दे के पीछे से कही जाती है। इसमें सब वृत्तियो का उपयोग हो सकता है। 'बाली-वध' इसका उदाहरण है।

श्रीगदित

आख्यायिका पर आधारित यह एकाकी है। वृत्ति भारती है। इसमे 'श्री' शब्द बार-बार आता है इसलिए इसे श्रीगदित कहते हैं। 'सुभद्राहरण' इसका एक-मात्र उदाहरण है।

विल्लासिका

मुख-प्रतिमुख, निर्वहण सन्धियो वाला यह एकाकी है। श्रृंगार इसका प्रधान रस है। इसमें दस लास्यागो का उपयोग होता है। इसमें का कार्य बहुत थोडा, मगर दिखावा या ठाठ (डेकॉर) बडा भारी होता है। हीन जाति का नायक, विदूषक, विट और पीठमर्द इसमें काम करते हैं। कुछ लोग इस नाट्य प्रकार को 'लासिका' कहते

है। और कोई 'दुर्मल्लिका'। कोई उदाहरण नही दिया गया है।

प्रकरणिका

यह नाटिका का ही रूप है। परन्तु इसके नायक और नायिका सार्थवाह वर्ग के होते हैं।

हल्लीश

इस एकाकी में कैशिकी वृत्ति और प्रथम और अन्तिम सन्धि होती है। एक पुरुष और आठ दस स्त्रियां इसमें होती है। इसकी भाषा ऊँची और रचना गीत-नृत्य प्रधान होती है। 'केलि खैतक' नामक नाटक इसका उदाहरण है।

इस प्राचीन परम्परा की तुलना यूनानी नाटक से करनी उचित होगी।

४

हिन्दी में नाटकों की प्रगति

प्रगति परम्परा से कटकर, अलग, स्वतन्त्र नहीं होती। अत सक्षेप में देखें कि हिन्दी नाटक के पूर्व की भारतीय पारस्परिक सास्कृतिक धरोहर क्या थी, और उस मूल उत्सव से हिन्दी की नाट्यधारा कैसे-कैसे प्रभाव ग्रहण कर आगे बढी और बढ़ती आ रही है। सक्षेप में उसका अतीत, उसका मध्ययुगीन विकास, वतमान तथा भविष्य यहाँ विचारणीय है।

सस्कृत परम्परा

नाटक की उत्पत्ति चाहे 'रूपारोपात् रूपकम्' इस अनुकरण की शिशुवृत्ति में मान, चाहे 'मे पोल' नृत्य और इन्द्रध्वज उत्सव की समानता में, यह निश्चित है सामाजिक मन की मनोरजनप्रियता में नाटक का मूल अवश्य है। डॉ० कीथ ऋतु-परिवर्तन के उत्सव को नाटको का मूल मानते है तो प्रो० हिलेब्रां तथा कोनो भारतीय लौकिक नृत्यो को। पिशेल के अनुसार कठपुतली का नाच और डॉ० ल्यूडर्स के अनुसार छायानाटक नाट्य-स्त्रोत है। वह जो हो, अनुश्रुति के अनुसार चारो वेदो से पाठ्य, गीत, अभिनय और रस लेकर नाट्यधारा जो चली, उसने अनेक रूप ग्रहण किये। भारतीय तथा यनानी नाट्य-प्रकारो में भी बडी समानता है, जैसे प्रकरण और 'रोमांस'; भाण और 'कॉमेडी ऑफ स्टेयर', डिम और ट्रॅजेडी ऑफ सुपरनैचुरल, वीथी और बर्लस्क आदि। भरत मुनि के अनुसार नाटक को बहुत बँधी बँधाई सीमाओ में चलना पडता था। नायक चार खानो में बाँटे गये थे—उदात्त, ललित, शान्त, उद्धत तो नायिकाओ के वय, स्वभाव, स्थिति के अनुसार सैकडो भेद थे। वृत्तियाँ भी निश्चित थी—कैशिकी, सात्वती, आर्भटी और भारती। उनमें भी फिर 'टेकनीक' के बंधन थे। शृगार हो तो फिर नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट या नर्मगर्म ही हो, इत्यादि इत्यादि। यहाँ तक कि रगमच की रचना और अभिनय, हावभाव होना आदि के विषय में भी बडे कडे नियम थे। तात्पर्य यह कि हमारे यहा मच का टेकनीक हर्षकाल तक बहुत विकसित और पराकोटि तक पहुँच चुका था। परन्तु फिर सहसा मुस्लिम आक्रमण के बाद छ-सात सदियाँ रगभूमि सुप्रावीथा में पहुँच जाती है, या कहें वह ग्रामो में रामलीला आदि रूपो में बिखर जाती है। उस आघात के बाद अग्रेजो का आना हमारे नाटक की आत्मा पर दूसरा आघात था। इस आघात से हमने बहुत-कुछ सीखा भी—उदाहरणार्थ समस्यामूलक इब्सन पद्धति के नाटक और एकाकी बिलकुल नई-सी देन हैं।

बंगला रंगभूमि का प्रभाव

अन्य प्रांतीय मचों का विकास हिन्दी से पूर्व हुआ। १७५७ में कलकत्ता थियेटर बना, १७९५ में एक रूसी अभिनेता हिरोसिम लेबडेफ्ट का देशी रगमच प्रख्यात था। दो लाख रुपयों का फड जमा करके श्यामबाजार में नवीनचन्द्र वसु के मकान पर 'विद्यासुन्दर' नाटक खेला गया। रामनारायण तर्करत्न और माइकेल मधुसूदनदत्त के कई नाटक बहुत ख्याति प्राप्त कर रहे थे। 'एकें की बॉले सभ्यता', 'शर्मिष्ठा', 'पदमावती' आदि। गिरीशचन्द्र घोष जैसे अभिनेता नाटककार के आगमन से १८७२ से जातीय नाट्यगृह की स्थापना हुई और 'नीलदर्पण, जैसे राजनीतिक नाटक दिखाए जाने लगे। शेक्सपीयर के किंग लीयर से प्रभावित द्विजेन्द्रलाल राय का 'शाहजहाँ' बहुख्यात हुआ। डी० एल० राय की १४ शोकान्तिकाओं और ६ सुखान्तो में से प्रथम प्रकार का हिन्दी नाटको पर गहरा प्रभाव पडा। यह प्रभाव बहुत अच्छा न था। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'मुक्ति का रहस्य' नाटक की भूमिका में स्पष्टत लिखा है, कला की चरम सीमा कल्पना के साथ नही, जीवन के साथ है। मैंने पुरानी परिपाटी को छोडने का प्रयत्न किया है। पुरानी परिपाटी से मेरा मतलब, डी० एल० राय की नाट्य-परिपाटी से है—जिसका प्रभाव हमारे नाटको पर बहुत बुरा पडा है। आग डी० एल० राय के दुर्गादास से गुलनार-दुर्गादास का सवाद उद्धृत कर जैसे शरद ने उपन्यास में वैसे राय नाटको में मृत्यु-पूजा (नेक्रोफैली) की अस्वस्थ प्रणाली कैसे चला दी यह स्पष्ट किया है। डी० एल० राय के पश्चात् रवीन्द्र की वाल्मीकि, चित्रा आदि काव्यमयी नाटिकाओं का प्रभाव हमारे यहाँ की पद्य नाटिकाओ यथा उदयशकर भट्ट के 'मत्स्यगधा, राधा', आदि पर लक्षित है। उनसे आगे के और आधुनिक बगला नाटको का प्रभाव हिन्दी बोलपटो पर छनकर आया है।

मराठी रंगमंच

वैसे विष्णुदास भावे का पहला नाटक १८४३ में खेला गया है। आगे किर्लोस्कर नामक अभिनेता-नाटककार ने १८७५ से ८५ तक मराठी रगभूमि को समृद्ध किया। देवल ने १८८५-९५ तक समाज सुधार के 'शारदा' जैसे नाटक लिखकर तथा कोल्हटकर ने १८९५ से १९०५ तक उसमें अधिक साहित्यिकता उँडेलकर मराठी नाट्यसाहित्य को उवरित किया। खाडिलकर ने अगले दशक में राजनैतिक आशय वाले पौराणिक आख्यान चुनकर—जिनमें से 'कीचक वध' तो जब्त भी हुआ—तथा गडकरी ने उसमें भाषा सौन्दर्य तथा पारसी थियेट्रिकल कपनियो वाली भडकीली नाट्यप्रसगात्मकता लाकर केवल पाँच नाटको से इधर कीर्ति ग्रहण की। वरोकर ने आधुनिक समस्याएँ जैसे दहेज, मजदूर-मालिक, सत्याग्रह, मिशनरी आदि उठाकर यद्यपि हल उतना अच्छा प्रस्तुत नही किया परन्तु कोल्हटगडकरी वाली साहित्यिक ऊँचाई से

नाटक की गगा को यथार्थवाद की भूमि पर उतारा। सन् १९३५ तक यही दशा रही, तब आचार्य अत्रे धूमकेतु की भाँति रगमच के आकाश में आये और, अपने नौ दस नाटको द्वारा उन्होने नाट्यक्षेत्र को प्रदीप्त कर दिया। रगमच के विशाल आडम्बर को उन्होने इब्सन की भाँति फेंक दिया, नई नई अब तक अछूत समस्याओ को उन्होने छुआ—प्रौढ कुमारिका, कुमारी माता आदि। एक ओर हास्य का अखड फव्वारा और व्यग्य की अचूक चोट साथ में रहने से वे बहुत लोकप्रिय रहे। परन्तु धीरे धीरे उन्होने जिस स्त्री स्वातन्त्र्य का झडा ऊँचा किया था वह आर्य-स्त्रीत्व के प्राचीन आदर्शों की ओर झुकने लगा। नाटक की प्रगति अवरुद्ध हुई। रागणेकर, वर्तक, माधव मनोहर आदि कई नवीन प्रयोगशील नाटककार उसे पुन युग के साथ चलाने मे प्रयत्नशील है। मराठी नाटको का हिन्दी पर प्रभाव नही के बराबर पडा क्योकि सिवा केलकर के 'कृष्णार्जुन युद्ध' के हिन्दी में मराठी आधुनिक नाटको के अनुवाद नहीं के बराबर हुए है। मराठी मच का प्रभाव हिन्दी पर बोलपट के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से आया। इधर दो-तीन मराठी नाटको के हिन्दी अनुवाद हुए हैं, जैसे जुआ (मुक्ताबाई दीक्षित) भाभी, (रागणेकर) एव भूमिकन्या सीता (मामा वरेरकर)।

हिन्दी

हिन्दी नाटको का विकास १९०० विक्रमी से पूर्व पूर्व-भारतेन्दु काल, १९०१ से १९५० भारतेन्दु काल तथा वर्तमान काल में साहित्यिक धारा तथा केवल रगमच के नाटक, (जैसे कि प्रो० रामकुमार वर्मा ने अपने साहित्य-समालोचना में 'रगमच' अध्याय में विभाजन किया है) ये दो धाराएँ तथा एकाकी यह तीसरी उपशाखा—इस प्रकार से किया जाता है। हिन्दी का पहला नाटककार, बनारसीदास के १६९३ में लिखे समयसार से आरम्भ मानें फिर भी भारतेन्दु काल तक अधिकाश नाटक केवल अनुवाद पर ही चलते थे। अनुवाद भी सस्कृत नाटको के अधिक होते थे तथा 'प्रबोध-चन्द्रोदय', 'शकुन्तला' आदि। भारतेन्दु काल मे बगला नाटको के अनुवाद हुए, मच की सामाजिक उपयोगिता बढी। स्वयम भारतेन्दु ने 'भारत दुर्दशा', 'केलि कौतुकारूपम्' आदि नाटको द्वारा खासे व्यग किये। 'अधेर नगरी' में चूरनवालो के लटको में भारतेन्दु कहते है—

'चूरन नाटक वाले खाते। इसकी नकल पचाकर लाते।' और 'केलि कौतुक-रूपम' में कहते है—'जिसमें बडे बडे लोगो की बडी-बडी लीलाएँ विशेषत नगर-निवासियो के गुप्त चरित्र दिखलाए गये हैं।' श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी, तोताराम, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास आदि के नाटक लोक-जीवन से अधिक निकट होते थे। बाद के साहित्यिक नाटको वाली भाषा की बनावट उनमे नही आ पाई थी। डा० रामविलास शर्मा के 'भारतेन्दु-युग' में इसका विस्तृत विवेचन है।

अब नाटक की धारा साहित्यिक अधिक बनने लगी। रगमच पारसी थियेट्रिकल कम्पनी से हथिया लिया और राधेश्याम की 'मशरिक की हूर' उस पर चमकने लगी। यहाँ तक कि इन्दौर के साहित्य सम्मेलन में प० रामचन्द्र शुक्ल ने भाषण दिया उसम नाटककारो म हश्र, जेबा, बेताब, शबाब, आनन्द प्रसाद कपूर आदि के नाम उन्होने गिनाये है (चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० २५५)। साहित्यिक धारा म प्राय प्रत्येक कवि ने नाटक लिखना अपना कर्त्तव्य मान लिया। (१) हरिऔध—रुक्मिणी परिणय, प्रद्युम्न विजय का व्यायोग, (२) मथिलीशरण गुप्त—चन्द्रहास, (३) पत—ज्योत्स्ना, (४) प्रेमी—रक्षाबन्धन आदि कई नाटक, (५) मिलिन्द—प्रताप प्रतिज्ञा, (६) माखनलाल चतुर्वेदी—कृष्णार्जुनयुद्ध आदि आदि। प्रसाद जी ने तो ४ ऐतिहासिक, ३ पौराणिक, २ भावात्मक ऐसे १३ नाटक लिखे, जिसमे एक ओर स्कदगुप्त जसे 'क्लासिकल' लम्बे नाटक है तो दूसरी ओर 'एक घूँट' जैसे एकाकी-प्राय भी। अब अग्रेजी से अनुवाद शुरू हुए और प्रेमचन्द ने गैल्सवर्दी के जस्टिस, स्ट्राइक, सिल्वरबाक्स के लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इबान के और अन्य व्यक्तियो ने गेटे, शॉ, टॉसी, योबेव आदि के अनुवाद शुरू किये। एकाकी बढने लगे। उग्र, लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास और उदयशकर भट्ट ने पुन साहित्यिक शैली के नाटको को समाज की विचारधारा से मिलाने का प्रयत्न किया। उग्र की छलछलाती भाषा, लक्ष्मीनारायण मिश्र का रूढिवाद, सेठ गोविन्ददास की अपनी कला के प्रति सतर्क परिश्रम प्रचुरता तथा उदयशकर भट्ट की काव्यात्मकता आदि गुण मिलाकर अभी कोई एक उत्तम नाटककार हिन्दी मे आना बाकी है।

एकाकी के क्षेत्र में रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, भुवनेश्वरप्रसाद, उपेन्द्र नाथ 'अश्क', जगदीशचन्द्र माथुर और अन्य कई लेखको ने कम-अधिक प्रमाण मे ख्याति पाई। नाटको में सामाजिक यथाथवाद से भी अधिक समस्यामूलकता आने लगी। भुवनेश्वर ने 'कारवाँ' के प्रवेश में लिखा है—"स्टेज जीवन के लिए एक चुनौती है, इसी प्रकार कि प्रत्येक कला जीवन के विरुद्ध एक विकल विद्रोह है भावुकता कलाकार के लिए विष है और हिन्दी कलाकार का भोजन। एक समस्या का सुलझाना कई समस्याओ का सृजन करना है।" जनता यथार्थवाद से चिढ़ती नही है वरन् भय खाती है। यथाथवाद और आदशवाद का अतर पाठक के मस्तिष्क में होता है, लेखक के नही। डॉ० रामकुमार ने परम्पराओ का निर्वाह एकाकी की सीमा में अच्छा किया है परन्तु वे उसमें नवीन जीवन फूँक न सके। एकाकी अब शिक्षालयो में उत्सव-प्रसगो मे खेले तो जाने लगे है परन्तु 'जन नाट्य सघ' ने जैसे सशक्त राजनैतिक प्चार और सास्कृतिक पुनरुत्थान का काय हाथ में लिया है, उसे उत्तम हिन्दी एकाकियो की आवश्यकता है। रेडियो वाले भी रेडियो-लिया फीचरो के लिए नये हिन्दी नाटककारो की

अधिक उत्तमोत्तम रचनाएँ चाहते हैं। यों, हिन्दी नाटक और मंच का भविष्य उज्ज्वल है। परन्तु नाटककारों को अधिक प्रगति प्राप्त करने की आवश्यकता है।

संक्षेप में, हिन्दी-नाटक-प्रगति के लिए निम्न माँगें तात्कालिक हैं—

(१) एक अखिल भारतीय हिन्दी रंगमंच की स्थापना। जिसकी शाखाएँ बम्बई, दिल्ली, प्रयाग, लखनऊ आदि में हों, जिस पर 'एमेच्योर' अपटु तथा पटु दोनों प्रकार के अभिनेताओं द्वारा नये नाटक खेले जायँ।

(२) अभिनेताओं की शिक्षा के लिए नाट्य-शास्त्र-शिक्षा-केन्द्र खोले जायँ।

(३) नाटककारों से सामयिक समस्याओं पर, सुरुचिपूर्ण नाटक लिखवाये जायँ।

(४) अन्य प्रान्तीय नाटककारों और मंचों से सहयोग स्थापित किया जाय।

(५) नाट्यकला को सवाक् पटों के आक्रमण से बचाया जाय।

५

भारतेन्दु के नाटकों में सामाजिक परिकल्पना

'इतिवृत्त हि नाट्यस्य शरीर परिकल्पितम्' (भरत—नाट्यशास्त्र १६—१)

"देअर इज बीहाइंड माय प्लेज ए थॉट-आउट सोशिऑलॉजी ह्विच मेक्स देम फण्डामेंटली अनलाइक दोज बाई ऑथर्स टु हूम नॉलेज ऑफ सोसायटी मीन्स दट पीज शुड नाट बी ईटन विद ए नाइफ।"

—जार्ज बर्नार्ड शॉ—सिक्स्टीन सेल्फ स्केचेज; पृ० १०१

नाटककार सामाजिक परिस्थितियो से किस प्रकार प्रभावित होता है, यह नाटककार से अधिक आलोचक का विषय है। नाटककार का प्रथम सर्वश्रेष्ठ आलोचक उसका पाठक, प्रेक्षक अथवा श्रोतृसमुदाय है। इस प्रकार से साहित्य यदि जीवन की आलोचना हो, तो नाटक आलोचना की आलोचना है।

नाटक में कथावस्तु पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक होती है। सामाजिक परिकल्पना तीनो में अपने-अपने ढग से की जाती है। यथार्थवादी नाटको म भी यथार्थ नाटककार के मनोलोक से छनकर ही चित्रित होता है। अत किसी भी नाटककार की सामाजिक परिकल्पना के सम्बन्ध मे विचार करते समय, तत्कालीन समाज-दशा, सामाजिक रूढ़ियाँ और मान्यतायें, और उनके प्रति नाटककार की मानसिक प्रतिक्रिया और उनकी अभिव्यजना के पश्चात् पाठक-दर्शक-श्रोता की प्रतिक्रिया का अध्ययन उपयोगी होगा।

भारतेन्दु अपने नाटको की रचना सोद्देश्य करते थे, यह 'नाटक' अथवा दृश्य-काव्य नामक सवत् १६४० में लिखे निबन्ध मे वे स्पष्टत लिखते है—

'अथ नवीन भेद' के अन्तर्गत (१) समाज सस्कार नाटको में देश की कुरीतियो का दिखलाना मुख्य कर्तव्य कर्म है। यथा शिक्षा की उन्नति, विवाह सम्बन्धी कुरीति-निवारण अथवा धर्म सम्बन्धी अन्यान्य विषयो में सशोधन आदि। किसी प्राचीन कथा-भाग का इस बुद्धि से सगठन कि देश की उससे कुछ उन्नति हो, इसी प्रकार के अन्तर्गत है। —भारतेन्दु नाटकावली, भाग २०, पृ० ४३०

और आगे चलकर उसी निबन्ध में 'अन्य स्फुट विषय' के अन्तर्गत—(२) 'नाटक के परिणाम से दर्शक और पाठक कोई उत्तम शिक्षा अवश्य पावे।'

—पृ० ४६०

भारतेन्दु तत्कालीन समाज की रूढ़िवादिता और नाटक के हीन रूप से

क्षुब्ध थे। आजकल फिल्मो में कालिदास, मेघदूत, कादम्बरी के भ्रष्ट चित्रण (तथा अभिनीत होने वाले भद्दे अनुवाद रूपान्तर) के प्रति इतने वर्ष पूर्व उन्होंने उसी 'नाटक' प्रबन्ध में लिखी आलोचना कितनी खरी उतरती है—

काशी में पारसी नाटक वालो ने नाचघर में शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटेवालियो की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटककर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डाक्टर थिबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कहकर उठ आये कि अब देखा नही जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे है। यही दशा बुरे अनुवादो की होती है।

—भा० ना०, भाग २, पृ० ४८० ४८१

प्रस्तुत लेख में भारतेन्दु के मौलिक नाटको की ही चर्चा की जायगी। वैसे अनुवादार्थ जो नाटक उन्होंने चुने, उनके चुनाव में यही सोद्देश्यता वे अवश्य ध्यान में रखते थे, और अनुवाद में रूपान्तर करते समय वे तत्कालीन समाज स्थिति पर व्यग किये बिना नही छोडते थे। उदाहरणार्थ शेक्सपीयर के 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' के अनुवाद 'दुर्लभ बन्धु' में जैनी शैलाक्ष के मुँह से आर्य और जैनी की तुलना कराते है—

"तो फिर जो तुम हम पर अत्याचार करोगे तो क्या हम बदला न लगे? यदि हम लोग बातो में तुम्हारे सदृश है तो इस बात मे भी तुम्हारे तुल्य होगे।" (वही; पृ० २२८) तथा "आप लोगो के पास कितने मोल लिये हुए दास और दासियाँ उपस्थित हैं, जिन्हे आप गधो, कुत्तो और खच्चरो की भाँति तुच्छ अवस्था में रखकर उनसे सेवा कराते है।" —पृ० ३७

अनुवाद भी नाटककार किसी हेतु से ही तो करता है। भारतेन्दु के समय के समाज का दम्भ विस्फोट भिन्न भिन्न प्रकार से करना चाहते थे।

'कलि कौतुकाव्यम्' शीषक में कहा गया है—'नाटक जिसमें बडे-बडे लोगो की बडी बडी लीलायें विशेषत नगर निवासियो के गुप्त चरित्र दिखलाये गए है।' उनके मौलिक नाटक दस माने जाते है, जिनका विषयानुसार विभाजन सम्भवत. यो किया जा सकता है। एक अप्राप्य 'प्रवास' तथा अधूरा 'सती-प्रताप' छोड दें, तो बचे आठ नाटको में से कथा-वस्तु के आधार के अनुसार निम्नलिखित—

पौराणिक—'सत्य हरिश्चन्द्र',

ऐतिहासिक—'विषस्यविषमौषधम्', 'नील देवी';

सामाजिक—'भारत दुर्दशा', 'अन्धेर नगरी', 'प्रेमजोगिनी', 'वैदिकी हिसा हिंसा न भवति', और

काल्पनिक—'चन्द्रावली' ('विद्यासुन्दर' पर बँगला नाटक की छाया होने से छोड दें)।

'सत्य हरिश्चन्द्र' उनका सर्वश्रेष्ठ मौलिक नाटक है । क्षेमीश्वर का 'चण्ड कौशिक' तथा रामचन्द्र का 'सत्य हरिश्चन्द्र' मूलाधार होने पर भी हरिश्चन्द्र ने इसमे अपनी मौलिकता दिखलाई है । इस नाटक में भी यत्र तत्र तत्कालीन समाज पर छीटे आ ही गये ह । यथा भारतेन्दु ग्रन्थावली पृ० २८५ पर पात्र हरिश्चन्द्र कहता है—

"अरे सुनो भाई सेठ, साहूकार, महाजन, दूकानदारो, हम किसी कारण से अपने को पाच हजार मोहर पर बेचते हैं, किसी को लेना हो तो लो । देखो, कोई दिन था, जब मनुष्य विक्रय को अनुचित जानकर हम दूसरो को दण्ड देते थे, पर आज वही कर्म हम आप करते हैं ।"

और पृ० २८७ पर उपाध्याय और बटुक का सवाद—

उपा०—क्यो रे कोण्डिन्य, सच ही दासी बिकती है ?

बटुक—हाँ गुरु जी, क्या मै झूठ कहूगा ? आप ही देख लीजियेगा ।

उपा०—तो चल, आगे आगे भीड हटाता चल । देख, धारा प्रवाह की भाँति कैसे सब कामकाजी लोग इधर से उधर फिर रहे ह, भीड के मारे पैर धरने को जगह नही है, और मारे कोलाहल के कान नही दिया जाता ।

बटुक—हटो भाई, हटो, गुरु जी, यह जहाँ भीड लगी ह वही होगी ।

उपा०—अरे ! यही दासी बिकती है ?

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकालीन काशी के कुछ और अच्छे चित्र—यथार्थवादी चित्र—मिलते हैं 'प्रेमजोगिनी' में, जो उनका एक ऐसा नाटक है कि जिसे हिन्दी नाटको में यथार्थवादी परम्परा का प्रथम कहकर आदरपूर्वक याद किया जा सकता है। 'प्रेमजोगिनी' म धनदास और बनितादास, 'पछियो' की तलाश में निकले ह और वे बातें करते हैं—

बनिता—अरे भाई गोसाइयन पर तो ससुरी सब आप भहराई पडथी पवित्र होवै के वास्ते, हमका पहुँच पावे ।

धन—गुरू, इन सबन का भाग बडा तेज है, मालो लूटैं मेहररुवौ लूटैं ।

बनिता—कुछ कहै की बात नही है। भाई मन्दिर में रहै से स्वर्ग म । रहे खाये के, अच्छा पहिरै कै परसादी महाराज कहौ गाढा तो पहिरवै न करियै, मलमल नागपुरी ढाँकै पहिरियै, अतरे फुलेल केसर परसादी बीडा चाभो, सब से सेबकी ल्यो, ऊपर से ऊ बात का सुख अलगै है ।"

पण्डे पुजारियो के पाखण्ड, भारतेन्दु के नाटको का प्रधान व्यग लक्ष्य रहा है। उन्होने यद्यपि कभी कभी सुधारवाद का भी समर्थन किया है, यथा श्री गोस्वामी राधाचरण जी को लिखे एक पत्र मे वे कहते हैं—

"आज के भारतेन्दु में प्रथम पत्र आर्यसमाजियो के विषय में जो है, उसम

मेरी बुद्धि म यह बात आती है कि ब्राह्मणो को एक ही बेर छोड देने की अपेक्षा सुधारना उत्तम है।" —भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ब्रज रत्नदास पृ० ३२६

और उन्होने लिखा है—

राखि वितायत गमन कूपमण्डूक बनायो ।
गोरन का ससग छुडाइ प्रचार घटायो ॥
बहु देवी देवतान भूत प्रेतादि पुजाई ।
ईश्वर सो राग विमुख कि य हिदुन घबराई ॥

भारतेन्दु ने एक व्याख्यान म कहा था—

"कोई धम की आड में, कोई देस की चाल की आड म, कोई सुख की आड में छिपे हे। उन चोरो को वहाँ यहाँ से पकड पकडकर लाओ। उनको बाँध-बाँधकर कैद करो।"

भारतेन्दु समाज सुधार चाहते थे। परन्तु कुछ आलोचक उन्हे क्रान्तिकारी सिद्ध करने के आवेश मे भारतेन्दु के लेखको म जो उन्होने नही भी लिखा हे, उसे खोज निकालते हे। यह भारतेन्दु के नाट्य लेखन पर ऐसा भाष्य हुआ कि जिसमें भारतेन्दु को अपनी इच्छानुसार ढाल लिया गया हो। कुछ विद्वानो ने भारतेन्दु को 'शाश्वतवादी' सिद्ध करने का जैसा हास्यास्पद प्रयत्न किया है, वैसे ही कुछ उन्हे उग्र क्रान्तिवादी सिद्ध करने का व्यर्थ यत्न करते हैं। भारतेन्दु का यथार्थ मूल्याकन करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि उन्होने तत्कालीन राजनैतिक सामाजिक यथाथ का चित्रण करते हुए लोकचेतना तथा जन-जागृति की नीव रखी। सच्चा कलाकार दल विशेष का जड 'माइक्रोफोन' नही होता, वह अपने समाज की जिह्वा होता है, उस समाज-स्थिति का उद्गाता और पथ-निर्देशक।

आधुनिक नाटको में सामाजिक यथार्थ के सोद्देश्य चित्रण के सम्बन्ध मे मैं दो उद्धरण देना चाहता हूँ। इब्सन ने स्वय लिखा है—

"ऑल दैट वी लिव्ड ऑन अपटिल नाउ हैज बीन दी रेम्नैन्ट्स ऑफ दि रिवोल्यूशनरी डिशेज ऑफ दि लास्ट सेन्चुरी, ऐंड वी हैव बीन लौग एनफ च्विंग दीज ओवर एण्ड ओवर अगेन। अवर आइडियाज डिमाण्ड ए न्यू इटरप्रेटेशन देअर इज ओन्ली वन थिंग दैट अवेल्स—टू रेवोल्यूशनाइज पीपुल्स माइण्ड्स।"

(अर्थात्—अब तक जिस पर हम जीते आये, वे गत शताब्दी के क्रान्तिकारी खाद्य के खण्डमात्र थे, और हम उन्ही का चर्विग वर्णन, पिष्टपेषण करते रहे। अब हमारे विचारो में एक नया आशय और एक नया भाष्य अपेक्षित है एक ही कार्य उपयोगी होगा—जनता के मन को क्रान्तिपूर्ण बनाना।)

जनता के मन में क्रान्ति बीजो का वपन केवल ध्वसवादी-नकारात्मक प्रगति-

वादी आलोचक कहते है, वैसा सस्ता काम नही है। जन शिक्षा की भी उसमें अपेक्षा है। ऐसे आलोचकों को उन्ही के समानधर्मा अलेक्जैंडर ए फादायेव के 'हमारी यथार्थवाद की ओर राह' (अवर रोड टू रियलिज्म) लेख के अश को सुनाना चाहता हूँ—

"ह्वाट इज सोशलिस्ट रियलिज्म ?—सोशलिस्ट रियलिज्म इज दि एबिलिटी टू प्रेजेंट लाइफ इन इट्स डवलपमेंट, दि एबिलिटी टू डिसर्न एण्ड रीपीदि ट्रुथ इन लाफ्स टु-ड दि सीड्स ऑफ ट्मॉरो।" अर्थात्—"समाजवादी यथार्थवाद क्या है ? —समाजवादी यथार्थवाद का अर्थ है, जीवन को उसके विकास में व्यक्त करने की क्षमता, जीवन के 'आज' में जो आगामी 'कल' के बीज मौजूद है, उन्हे परखना और उनका सत्य व्यक्त करने की क्षमता।"

प्रगतिवादी आलोचको का एक दल निरे विनाश पक्ष का भरव-घोष करता है, वह विकास पक्ष को देखना ही नही चाहता।

भारतेन्दु के समय भारत म न समाजवाद था, न प्रगतिवाद। परन्तु अपनी अद्भुत व्यग-शक्ति, पैनी समाज-विश्लेषण-दृष्टि से सामाजिक यथार्थ के चित्रण में उन्होने वह चमत्कार दिखलाया है कि हम उनकी उस देन के अभी भी ऋणी है। कुछ उदाहरणो से यह बात स्पष्ट होगी, जो कि उनके नाटको से यहाँ चुनकर दिये जा रहे है—

(१) 'भारतेन्दु-नाटकावली' से—'विद्यासुन्दर' में—

धूमकेतु—क्यों रे तुम लोगो ने क्या शब्द कर रक्खा है ?

हीरा मालिन—दोहाई कोतवाल की, यह सब जो चाहते है गाली देते है, हाय इस राज्य म स्त्रियो का ऐसा अपमान ! महाराज धूमकेतु आप तो पण्डित है, आप इसका विचार क्यो नही करते ?

प्रथम चौकीदार—महाराज ! यही रॉड सब कुकर्म की जड है और तिस पर ऐसी बाते बनाती है।

हीरा मालिन—एक मै ही दुष्कर्म करती हूँ और तुम साधु हो। देखो कोतवाल, हम तो कुछ नही करते, और तुम सब हमारी प्रतिष्ठा बिगाडते हो।

धू० के०—(हँसकर) हाँ, हाँ ! मै तेरी सब प्रतिष्ठा समझता हूँ, पर यहाँ से क्या ? सब लोग महाराज के पास चलें, जो वह चाहेगे सो करेंगे।

हीरा मालिन—अरे कोतवाल बाबा, इस बुढिया को क्यो पकडे लिये जाते हो, बुढ़िया के मारने से क्या लाभ होगा, मुझे अपने बाप की सौगन्ध जो मै कुछ जानती हूँ, भगवान् साक्षी है कि मै किसी पाप मे रही हूँ। (पृ० २१)

(२) 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' से—

राजा—आइये गण्डकीदास जी।

पुरोहित—गण्डकीदास जी हमारे बडे मित्र है। यह और वष्णवो की तरह जजाल मे नही फँसे है। यह आनन्द से ससार का सुख भोग करते है।

गण्डकीदास—(धीरे से पुरोहित से) शजी, इस सभा म हमारी प्रतिष्ठा मत बिगाडो। वह तो एकान्त की बात है।

पुरोहित—वाह जी इसमें चोरी की कोनसी बात है ?

गण्डकीदास—(धीरे से) यहाँ वह वैष्णव और शव बैठे है।

पुरोहित—वैष्णव तुम्हारा क्या कर लेगा ? क्या किसी की डर पडी है ?

विदूषक—महाराज, गण्डकीदास जी का नाम तो रण्डादास जी होता तो अच्छा होता।

राजा—क्यो ?

विदूषक—यह तो रण्डा ही के दास है।

आशडरुचक्राङ्कितबाहुदण्डा गहे समालिङ्गितबालरण्डा।
अथच, मराडा भविष्यन्ति कतो प्रचण्डा।
रण्डामण्डलमण्डनपु पटवो वूना कतो गैरणाजा।' (पृ० ८०)

(३) 'भारत-दुर्दशा' म—

बँगाली—'खडे होकर सभापति साहब जो बात बोला सो बहुत ठीक है। इसका पेशतर कि भारत दुर्दैव हम लोगो का सिर पर आ पडे' कोई उसके परिहार का उपाय शोचना अत्यन्त आवश्यक किन्तु प्रश्न कई है, जे हम लोग उसका दमन करने शाकता कि हमारा बोर्जाबिल के बाहर की बात है। क्यो नही शाकता ? अलबत्त शकगा, परन्तु जो शब लोग एकमत होगा। (करतलध्वनि) देखो हमारा बगाल में इसका अनेक उपाय शाधन होते है। ब्रिटिश इण्डियन असोशिएशन लीग इत्यादि अनेक शभा भी होते है। कोई थोडा भी बात होता, हम लोग मिल के बडा गोल करते। गवनमेण्ट तो केवल गोलमाल से भय खाता। और कोई तरह नही शोनता। ओ हुआ का अखबारवाला एक बार ऐसा शोर करता कि गवर्नमेण्ट को अलबत्त शुनने होता। किन्तु ईयाँ, हम देखते है कोई कुछ नही बोलता। आज शब आप सभ्य लोग एकत्र है, कुछ उपाय इसका अवश्य शोचना चाहिए।

—उपनिवेश' पृ० ४८६

इस तरह से समाज की बुराइयो का चित्रण करते हुए नाटककार का ध्यान किस ओर होना चाहिए, यह मुख्य प्रश्न है। क्या समाज में पाप निरा नियति का अभिशाप है ? सज्जन जो कष्ट पाते है, वह क्या केवल भाग्य की बिडम्बना है ? शॉ से जब यह प्रश्न पूछा गया था तो उसने बहुत स्पष्ट उत्तर दिया था कि—

"मै पाप के प्रश्न को दैव-दुर्विपाक मानकर छोड नही देता। ब्लांको पान्सेत

पात्र के मुँह से मैंने कहलवाया है, इसका उत्तर। मेरी सब रचनाओ के पीछे एक रचनात्मक उत्क्रान्तिवाद के स्पष्ट दर्शन होगे। यह बटलर और बेर्गसा का दर्शन है।"

भारतेन्दु ने किसी ऐसी दार्शनिक मान्यता का सुस्पष्ट मण्डन तो अपनी रचनाओ में नहीं किया। यत्र तत्र 'हाय रे दैव !' के भी दर्शन हो जाते हैं। परन्तु भारतेन्दु ने मानवी परिश्रम और पराक्रम, अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लडने की निरन्तर आशावादिता के बहुत सुन्दर उदाहरण अपने नाटको में रचे है। परवर्ती हिन्दी नाटककारो मे किसी ने 'नियति के विलय' के शून्यवाद अथवा विस्मृति कराने वाले आनन्दवाद की या हृदयवाद की क्षणिक शरण ली है। भारतेन्दु के नाटको में सामाजिक परिकल्पना इसी दृष्टि से अधिक स्वस्थ और सहेतुक, अत ऐतिहासिक मूल्य की वस्तु बन गयी है।

"भारतेन्दु के नाटको में सबसे पहले ध्यान इस बात पर जाता है कि उन्होने सामग्री जीवन के कई क्षेत्रो से ली है। 'चन्द्रावली' मे प्रेम का आदर्श है। 'नीलदेवी' पजाब के एक हिन्दू राजा पर मुसलमानो की चढाई का ऐतिहासिक वृत्त लेकर लिखा गया है। 'भारत दुर्दशा' में देश दशा बहुत ही मनोरजक ढग से सामने लायी गयी है। 'विषस्यविषमौषधम्' देशी रजवाडो की कुचक्रपूर्ण परिस्थिति दिखाने के लिए रचा गया है। 'प्रेमजोगिनी' में भारतेन्दु ने वर्तमान पाखण्डमय धार्मिक और सामाजिक जीवन के बीच अपनी परिस्थिति का चित्रण किया है, यही उसकी विशेषता है।"

—प० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६१

६

उपन्यास मे मनोविज्ञान

उपन्यास-रचना जो कि एक कला ह, उसका मनोविज्ञान से क्या कोई सम्बन्ध भी है ? क्या औपन्यासिक का मनोवैज्ञानिक होना लाजिमी है ? यदि है तो क्यो ? क्या मनोविज्ञान के ज्ञाता न होकर भी प्राचीन औपन्यासिक सफल नही हुए ? फिर यह प्रश्न होता है कि औपन्यासिक को किसके मन की जानकारी चाहिए—अपने स्वय के, अपने आसपास की अनुभवाधेय जीव-सृष्टि के, अपने काल्पनिक पात्रो के, अपने पाठक के या अपने प्रकाशक के ? या सबके ? फिर यह मन भी कोनसा—वैज्ञानिक तो मन के भिन्न भिन्न पहलू लकर उस पर चर्चा करते है—क्या मन के सामग्रय का या मन खडो का ? अन्तमन का या बहिर्मन का ? चेतन या अचेतन मन का ? मन भी क्या देश काल परिस्थिति से मुक्त है ? यदि हाँ, तो उस अध्यात्मवादी के विशुद्ध मन से औपन्यासिक को क्या प्रयोजन है ? यदि नही तो फिर मन के विज्ञान का प्रश्न कसा ? फिर 'मन को मन से तौलिये, वो मन कभू न होय' भी कहाँ तक ठीक है ? क्या उपन्यासकार का स्वय का मन उसके विवेच्य, 'मन' से अप्रभावित रहता है ? इन दोनो मनो के बीच मे कौनसे परस्पर व्यापार, क्रिया-प्रतिक्रियाएँ सम्भवनीय है ?

सक्षेप में हमारा प्रश्न कुछ इस प्रकार की आकृति में शायद बँध सके—
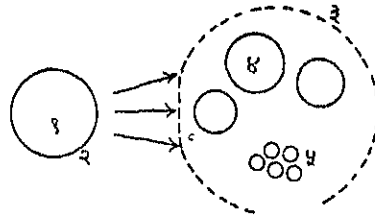
१—उपन्यास-लेखक का मन ।

२—वृत्त—बाह्य-जगत्, जिसका प्रभाव १ पर सघर्ष, विरोध, समन्वय या केवल स्थायी या सचारी भाव-जागरण के आधेय के रूप मे पडता है ।

३—उपन्यास का मनोलोक—काल्पनिक अथवा यथार्थ ।

४—प्रमुख पात्रो का मन ।

५—गौण पात्रो का मन ।

स्पष्ट है कि यद्यपि मन के बिन्दु यत्र तत्र बिखरे है, और वृत्त भी एक वक्र रेखा का बना है, जो कि अन्तत बिन्दुओ से ही बनी हुई है, तो भी जहाँ तक मनोविज्ञान का सम्बन्ध है, औसत पाठक वैज्ञानिक होने का दावा नही करता। उपन्यास-लेखक को भी मनोवैज्ञानिक होना ही चाहिए, यह कहना ज्यादती है। अत कुछ अशो में औपन्यासिक और सर्वांशत आलोचक पर औपन्यासिक मनोवैज्ञानिकता की जिम्मेवारी आ पडती है।

सधारणत इतना दीबाचा काफी समझकर अब प्रश्न को बिल्कुल दूसरे छोर से उठाता हूँ। गए दस वर्षों म सर्वाधिक उपन्यास मने मराठी में पढे, फिर अग्रेजी में, फिर हिन्दी में। उस क्रम से चर्चा करूँगा। मुझमें के उपन्यास लेखक साहित्यालोचक और मनोविज्ञान के विद्यार्थी का निष्कर्षात्मक वाद विवाद अन्त मे देकर औपन्यासिक मनोवैज्ञानिकता पर अपना मन्तव्य सक्षेप्त रूप से समाप्त करूँगा।

मराठी उपन्यास

मराठी उपन्यासो मे मनोवैज्ञानिकता पर चूंकि हिन्दी-भाषी पाठको के लिए लिख रहा हूँ, अधिक सूक्ष्म विवरण में जाना या नाम, उदाहरण गिनाना ठीक नही। साधारण प्रवृत्तियो पर ही कहा जा सकेगा। हरिनारायण आपटे मराठी के प्रेमचन्द समझिए। उनके उपन्यासो में मनोविज्ञान का सहारा बहुत स्थूल रूप से लिया जाता था। पात्रो की भावनाओ का विश्लेषण नहीं होता था, वर्णन से ही काम चलता था। परन्तु उनके यथार्थवादी कहानीकार होने के कारण उनके 'भी', 'पण लक्षात कोण घेतो' वगैरह सामाजिक उपन्यासो में बहिर्जगत से बनने-बिगडने वाले मनो का अच्छा खाका खीचा गया है। और डिकेन्स के समान, इसीलिए उनके पात्र निरे 'टाइप' होते थे। मानो उन पात्रो का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व न हो और वह विकसित होने की कोई गुन्जाइश भी न हो। मानो वे उपन्यासकार के हाथो नचने वाले निरे कठपुतले हो।

हरिभाऊ आपटे के बाद मराठी उपन्यास क्षेत्र में कई वर्षा तक नाथमाधव और हडप के ऐतिहासिक और जासूसी उपन्यासो का दौर रहा। देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासो जैसी एक पीढ़ी गुजरी। अग्रेजी के उपन्यासो के अनुवाद, जो अभी भी होते रहते है और बँगला अनुवादो की एक बाढ-सी आ गई—रेनल्ड्स, बकिम, शरच्चन्द्र, रवीन्द्रनाथ ये तब के लोकप्रिय लेखक थे। परन्तु इनके साथ मराठी उपन्यास के मनोलोक में कोई मौलिक परिवर्तन नही घटित हुआ। मराठी पाठक और साथ ही लेखक भी इतना भावुक न होने के कारण शरच्चन्द्र का कोई वैसा घोर असर मराठी उपन्यास पर नही पडा जैसा हिन्दी में दिखाई देता है। 'नवी क्षितिज' जैसा एकाध अपवाद छोड़ दे।

उपन्यास में मनोवैज्ञानिकता को सूक्ष्मता से प्रयुक्त किया एक नई पीढ़ी लेखकों ने, जिनम से प्रमुख हैं—फडके, खाडेकर, माडखोलकर, पु० य० देशपाँ गीता साने, विधे और पेंडसे। अभी '४२ के आन्दोलन पर मराठी म आधे दर्ज उपन्यास प्रकाशित हुए जिनमें से फडके का 'शाकुन्तल', माडखोलकर का 'प्रमद्वरा शा० बा० शास्त्री का 'अमावास्या' आदि जब्त भी हो गये। हिन्दी में इतनी विर राष्ट्रव्यापी घटनाओ पर, '४२ की अगस्त क्रान्ति पर, बगाल की भुखमरी पर, युद्धज मध्यवग की तगी पर कितने औपन्यासिको ने लखनी उठाई है? अब उपरोल्लिखि सातो उपन्यास लेखको का प्रयुक्त किया हुआ मनोविज्ञान कुछ बारीकी से देखे फडके एक चतुर उपन्यास कथाकार है। वे इस बात को हमेशा देखते हैं कि पाठ का कुतूहल किस प्रकार जाग्रत रखा जाय। वे मनोविज्ञान के प्रोफेसर हैं। वे पा के मन की सूक्ष्म से सूक्ष्म हलचलो के बडे सजीव वर्णन, अप्रत्यक्ष घटनाओ, सूचक सवा और रेखाचित्रो के सहारे करते जाते हैं। इस कारण 'जादूगर' से 'आवे रवें बड' त दो वजन उपन्यासो मे उनका कोई भी उपन्यास अरोचक नही रहा है। उन्होने वि बोम और जम्स हिल्टन के अंग्रेजी उपन्यासों के अनुवाद भी किये ह। फडके की सब बडी विशेषता यह है कि वे मनोवैज्ञानिकता को अतिवाद तक नही पहुँचाते। उन लेखनी का सबसे बडा चमत्कार उनका लेखनी पर सयम है। खाडेकर और साने गुरू 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' स्कूल के लेखक है। वे मानवतावाद को प्रमुख मानकर चल है। इस कारण से अपनी मान्यताओ और प्रमेयो को सिद्ध करने की दृष्टि से वे पा को लेकर चलते है। अब फडके के उपन्यासो की सख्या ४३ हो चुकी है।

प्रेमचन्द की ही भाँति खाँडेकर के पात्र भी (विशेषत नायिकाएँ) स्वत विकसि नहीं जान पडती, कृत्रिम बन जाती है। साने गुरूजी अधिक सजीव शैली के लेखक है परन्तु समाजवाद का प्रचार उनके पात्र परिपोष से अधिक उभर उठता है। वे बच के मन का बहुत ही सतोषजनक विवेचन करते है। माडखोलकर मूलत. रोमैण्टि उपन्यासकार है। उनमें का कवि उनमें से पत्रकार से सदा जूझता-सा उनके उपन्या में दिखता है। एक असफल कवि एक सफल आलोचक बनकर और व्यवसाय दैनिक पत्रकार होने के कारण उनके स्वयम् के मन में अनेकानेक भावनाओ का द्व चलता रहता है। द्वन्द्व के सामान्य और विशिष्ट दोनो अर्थों में वे सफल मनोवैज्ञानि चित्रण करते हैं। उन पर आक्षेप है कि वे नग्न चित्रण करते है। कुछ आलोचक उ अश्लील भी बतलाते है। परन्तु जीवन के वर्जित प्रदेशो को उघारने में वे एक निर यथार्थवादी की भाँति सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रेखा को चित्रित करते है। एक बात अवश्य है कही-कही लेखक की दृष्टि उस विवश अङ्ग पर ठिठकी-सी जान पडती है। ह्रासोन्म समाज-व्यवस्था में 'सेक्स' को लेकर जो कुछ वितडावाद निर्मित होते है; जो उ

प्रति अस्वस्थ आकर्षण नायक नायिकाओं में रहता है, वह 'शाप' से 'डाक बगला' तक उनके उपन्यासो में स्पष्ट है। पु० य० देशपाण्डे कांग्रेस समाजवादी बने। विवेचन में शास्त्रशुद्ध दृष्टि का आग्रह रखते हुए वे अपने प्रारम्भिक दो उपन्यासो में (सुकलेलें फूल, सदाफुली) एक कवि की आत्मा लेकर आये। बगालियो की भावुकता और रूसियो की सादगी का सुन्दर सम्मिलन उनकी शैली में था। विभावरी शिरूरकर की भाँति देशपाण्डे भी एक युग-प्रवर्तक औपन्यासिक माने गये—बिलकुल उनकी आरम्भिक 'बन्धनाच्या पलीकडे' से ही। परन्तु फिर एक अर्सा बीता, और 'विशाल जीवन', 'काली राणी' और 'नये जग' में एक ऐसी दुरूह, मन के अवचेतन को व्यक्त करने वाली दार्शनिक शब्दावली में उपन्यास लिखने लगे कि उनमे का औपन्यासिक तत्त्व निश्शेष होता चला। 'विशाल जीवन' में जेल से छूटे हुए कार्यकर्ता की सकुचित व्यक्तिवाद से ऊपर उठकर जनता में जा मिलने की प्रबल इच्छा और बोर्जुआ सस्कारो के बीच प्रबल सघर्ष है। 'काली राणी' में समवयस्क भाभी-देवर के प्रेम के साथ-साथ एक काली मोटर-साइकिल को उपन्यास की नायिका बना, गति, अखण्ड और प्रचण्ड गति, केवल गति, न जाने कहीं दूर-दूर हो जाने की वृत्ति का विश्लेषण उपस्थित किया है। 'नवें जग' में एक प्रियकर युद्ध पर जाकर नपुसक बनकर लौटता है और अपनी प्रेयसी का यौन समाधान न कर पाने के कारण उसे अन्य से विवाह कर लेने का आग्रह करता है। युद्धोन्मुख दुनिया का, लेखक के मत से यह प्रतीकात्मक चित्रण है। कुछ-कुछ अल्डूस हक्सले की-सी नकारात्मक वृत्ति देशपांडे के उपन्यासो में आनी जा रही है, जो उन्हें कहीं रहस्यवाद में न खो डाले यही भय है। गीता साने ने भी माडखोलकर और देशपाण्डे की भाँति नर नारी के वासना-पक्ष को छुआ है, परन्तु वे मनोविश्लेषण के चक्कर में नहीं पडती। समाज की वस्तुस्थिति को ज्यो-का त्यो देने में वे नही चूकती। विशेषत पितृ प्रधान समाज व्यवस्था में पुरुष द्वारा स्त्री पर नाना प्रकार से होने वाले प्रत्याचारो को बडे दर्द और रोष, विद्रोह और व्यग्य से उन्होंने उपस्थित किया है। वे 'फमिनिस्ट' यानी स्त्री-स्वातन्त्र्यवादिनी है। मगर उनमें वर्जीनिया वल्फ जैसी जीवन के सामग्र्य को छूने की क्षमता नहीं। अन्त के दो नाम, र० वा० दिघे और मर्ढेकर मैंने इसलिए लिये हैं कि उनमें से दोनो के ही एक एक दो-दो उपन्यास प्रकाशित हुए है पर वे चर्चा का विषय बन चुके हैं। दिघे की 'पाणकला' और 'सराई' में कोकन खेतीहर के जीवन का बहुत सुन्दर जीवन व्यक्त हुआ है। सोलोखोफ या स्टाइनबेक के सामूहिक जीवन के चित्रण के प्रयोगो के समान (यथा 'एण्ड क्वाएट फ्लौज द डान' और 'ग्रेप्स ऑफ रॅथ')। दिघे के उपन्यास का नायक भी पूरा गाव है। उनमें एक बडे युग दर्शी औपन्यासिक की सभावनाएँ है। मर्ढेकर ने जेम्स जौइस के 'यूलेसिस' के ढग पर एक

उपन्यास 'रात्री चा दिवस' (रात्र का दिन) लिखा, जो करीब कथानकशून्य है उसमे एक सहसम्पादक के चेतन, अर्द्धचेतन मन में उठने वाली सवेदनाओ और सहस्मृतियो (एसोशिएसस) का चित्रण करने का प्रयास किया है। परन्तु उसके पीछे कोई निश्चित उद्देश्य न होने के कारण केवल प्रयोग के लिए प्रयोग बनकर वह चीज रह गई। उनकी दूसरी कृति 'लाल मिट्टी' (ताम्बडी माती) में युद्ध को लेकर एक गँवार पहलवान जो सिपाही बन जाता है, उसका दृष्टिकोण और भाईकुमार का कामरेडी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। परन्तु दोनो के रोमास के प्रति रुखो में कुछ-कुछ प्रचारात्मक, साम्यवादियो के प्रति वितृष्णा झलक उठी है। सक्षेप म, मराठी उपन्यासो में इस दिशा में, जागरूक, स्पष्ट, उत्तम प्रयोग हो रहे ह। सब के सब सफल नही कहे जा सकते, परन्तु पश्चिमी आदर्शों को स्थानीय रग में ढालकर वे अद्भुत मिश्रण उपस्थित करते है। कभी कभी वह विदेशी पौधा देशी जमीन पर जम जाता है, फूल-फल उठता है, कभी विकसित नही हो पाता।

अंग्रेजी उपन्यास

अंग्रेजी उपन्यास मैंने उतने नही पढ़े जितनी उनके विषय में आलोचको का मत था। वैसे तो मनोवैज्ञानिक उपन्यासो की ओर अंग्रेजी में झुकाव घटना-प्रधान ऐतिहासिक उपन्यासो के निर्माता स्कॉट के विरोध में उसी के काल में जेन ऑस्टिन नामी लेखिका से ही शुरू होता है। परन्तु उस समय घरेलू वातावरण को लेकर जो उपन्यास लिखे जाते थे, वे मनोवैज्ञानिक आज के अर्थ में नही कहे जा सकते। डिकेन्स और थैकेरे ने निम्न-वर्ग के और मध्य-वित्त वर्ग के चरित्रो को लेकर उनके मन मे बैठने का प्रयत्न किया, परन्तु प्रचार पक्ष डिकेंस मेंकला पक्ष पर हावी हो गया, और थैकेरे बेचारा अपने अह को छिपा न सका। परिणामतः डिकेंस के पात्र, फार्स्टर के शब्दो में समतल (फ्लैट) बने रहे और थैकेरे के उपन्यासो में आ-जाकर थैकेरे ही प्रधान नायक बना रहा (जैसे शाम में)। उसके बाद एक युग मध्य विक्टोरियन काल में सनसनीपूर्ण उपन्यासो का बीता। उपन्यास के द्वारा साहस-कथा और भयानक रस का निर्माण होने लगा। श्रीमती शैले के 'फ्रैंकेन्स्टाइन' (जिसके फिल्म पर विज्ञापन रहता था—'कच्चे दिल वाले लोग यह चित्रपट न देखें') से लगाकर राइडर हैगार्ड के 'शी' तक यही धारा चलती रही। एडगर वॅलेस और कानन डौइल् के जासूस उपन्यास इसी की एक प्रशाखा मात्र है।

इन 'गोथिक' या 'स्टट' उपन्यासों से तग आकर हेनरी जेम्स जैसे औपन्यासिक उस शैली की ओर झुके जिसे कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास-कला कहा जाता है। हार्डी, अपने घनीभूत निराशावाद के साथ, मैरेडिथ अपने व्यग्यपूर्ण सूक्ष्मावलोकन के साथ,

काम्नेंड अपने भाग्यवाद के साथ इस क्षेत्र में उतरे और उन्होने एक-से-एक बढकर मजेदार पात्र उपस्थित किये। जूड, क्लारा, कप्तान, मैकविर। इधर फ्रास में जो कथा क्षेत्र में प्रयोग हो रहे थे, विशेषत जोला, फ्लाबेयर, बादलेयर, मोपासाँ के यथार्थवादी, नग्नवादी या प्रकृतिवादियो के यौन जीवन के वर्जित प्रदेश में जाकर झाँकने की प्रवृत्ति अंग्रेजी औपन्यासिको पर अपनी छाया छोड चली। मार्सल प्रूस्त और दोस्ताएवस्की के प्रभाव भी भुलाये नहीं जा सकते। फलत गैल्सवर्दी, एच० जी० वेल्स और अर्नाल्ड बेनेट की गत महायुद्धपूर्व की वह पीढी सामने आती है जिन्होंने मानवतावाद, समाजवाद और नव्य यथार्थवाद की भित्ति निर्मित की। गैल्सवर्दी ने अपने उपन्यासो में पीढियो का सघर्ष उपस्थित किया। सैम्युएल बटलर की भाँति उसके दृष्टिकोण पर भी नवीन वैज्ञानिक प्रयोगो और सिद्धान्तों, यथा विकासवाद या परम्परा शाला के मेंडेलवाद आदि का प्रभाव पडा है। एच० जी० वेल्स ने तो साइस को भी रोमांस में परिणत करने का दुसाध्य प्रयत्न किया। बेनेट और प्रीस्टली अंग्रेज मध्य-वित्त कुटुम्बो की ह्रासोन्मुखता को चित्रित करते रहे। इन औपन्यासिको ने मनोविज्ञान को आश्रय दिया परन्तु जहाँ तक वह रोमास की सहायता करता था, इससे अधिक नही।

इनके बाद एक सशक्त दार्शनिक, काव्यात्म मन के अवश्चेतन में बैठकर उसके आस-पास को चित्रित करने वाले औपन्यासिको की एक पीढी आगे आई, जिसके अग्रदूत थे डी० एच० लारेंस, और पश्चाद्वर्ती जेम्स जौयस, अल्डूस हक्स्ले और वर्जीनिया वूल्फ। लारेंस की 'लेडी चैटरलीज लवर' जब्त हो गई, अपनी अश्लीलता के कारण, परन्तु किसी बडे मनोवैज्ञानिक ने उस पर निर्णय दिया कि प्रत्येक अवि-वाहिता को वह पुस्तक एक बार पढनी ही चाहिए। 'सन्स एण्ड लवर्स' में माता के प्रति यौन आकर्षण तथा 'कगारू' में अप्राकृतिक सभोगेच्छा को आधारभूत लेकर फक्कड लारेंस ने अपने अर्ध-सत्य बहुत ज्वलन्त शैली में प्रस्तुत किये। फ्रायड के निष्कर्ष तब तक यूरोप की मनसा पर छाये हुए थे। लारेंस एक प्रकार से घोर अराजकवादी था, अहवादी। वह वर्तमान सभ्यता के नाम पर चलने वाली असभ्यता का सबसे बडा विध्वसक था। उसकी लेखनी में पर्याप्त शक्ति थी, परन्तु समाज की विकृतियों के विश्लेषण-निदान में उसने आर्थिक कारण परम्परा को प्राधान्य न देखकर, यौन अव्यवस्था और वर्जनाओ पर जोर दिया। इस गलत जोर (Wrong emphasis) के कारण, उसकी सारी तीक्ष्णता एक चट्टान पर जाकर जैसे चूर-चूर हो गई। हक्स्ले के विशाल अध्ययन और विविध विज्ञानो से परिचय के कारण उसने आरम्भ बहुत अच्छा किया, परन्तु अन्तत. वह भी धीरे-धीरे एक घोर नकारात्मकता की ओर झुकने लगा। इन दो प्रवृत्तियो (लारेंस और अल्डूस हक्स्ले) की असफलता को समझने में हमें शेखर और जैनेन्द्र के उपन्यास बहुत सहायक हो सकते हैं। यद्यपि

यूरोपीय औपन्यासिको से तुलना करना दोनो के हक़ में ग़लत होगा, फिर भी शेखर में पाई जाने वाली उद्धत आत्म महत्त्व प्रदान प्रवृत्ति और जनेन्द्र की आत्म-प्रपीडक प्रवृत्तियो का सामाजिक विश्लेषण म, अन्तत जाकर कितना कम प्रभाव पडता है, यह दर्शनीय है। इन दो लखको से भिन्न प्रवृत्ति जौइस की है। वह एक मनोविश्लेषण-कार की निममता लेकर भाषा, शैली, टेकनीक सब चीजो में एक क्रान्ति उपस्थित करता है। परन्तु उसकी प्रवृत्ति अन्तत बहुत अस्वस्थ जान पडती हे। इस प्रकार के प्रयोग यद्यपि कम क्या नही के बराबर है परन्तु उनकी कुछ छाया इलाचन्द्र जोशी और नरोत्तम नागर के उपन्यासो में पाई जा सकती है। अन्त में रह जाती है वर्जीनिया वूल्फ। इसका दृष्टिकोण जीवन की समग्रता के प्रति बहुत ही न्यायोचित था। आलोचिका के नाते वह जितनी सफल है, औपन्यासिका के नाते उतनी नही। हिन्दी में उपन्यास स्त्री लेखिकाओ के दो-चार के ही है, परन्तु वे भी प्रथम श्रेणी के नही। पता नही इस क्षेत्र में लेखिकाएँ क्यो कदम नहीं उठाती। वे बस कविता, गद्य काव्य तक ही अपना कर्मक्षेत्र सीमित मानती हैं। इस युद्धोत्तर अंग्रेजी मनोवज्ञानिक उपन्यासकारो की पीढ़ी में मानसिक विकृतियो के प्रति एक विचित्र प्रकार की आसक्ति दिखाई देती है, जो अवांछनीय है। दूसरे वैज्ञानिक शब्दावली के चक्कर में वे जीवन और जनता से अत्यधिक कटे हुए उपरि-मध्य-वर्ग या श्रीमान् वर्ग का ही दृष्टिकोण उपस्थित करते हैं।

इनके बाद इस युद्ध के आरम्भ-आरम्भ में एक और नई पीढ़ी लेखको की सामने आ रही है जो रूसी और अमरीकन अधिक है, और जो अपनी लेखनी जन-जन के दर्द मे डुबोकर लिखती है। काफ्का का आध्यात्मिक सकेतवाद या टामसमैन का मनोवज्ञानिक चमत्कारवाद अब आकषक कम पडता जा रहा है। और उसके बदले में अप्तन सिन्लेयर या ए-हेनबुर्ग के आदर्श अधिक प्रभावशाली हो रहे हे। मनोविज्ञान उपन्यास में उसी प्रकार घुल-मिलकर आ रहा है, जैसे प्रचार-कला मे। केवल मनो-वैज्ञानिक प्रयोग के लिए उपन्यास नही लिखे जाते। वस्तुत एक मनोवैज्ञानिक और कलाकार के दृष्टिकोणो में ही मूलभूत अन्तर है, जैसे कि युग ने अपने 'आत्मा की खोज में आधुनिक मानव' पुस्तक में कहा है। अंग्रेजी उपन्यासो में मनोविज्ञान पर पठनीय समीक्षात्मक पुस्तकें है। इ० एम० फार्स्टर, की 'आस्पेक्टस ऑफ नावेल', राल्फ फाक्स की 'नावेल एण्ड दी पीपल' जोड की 'गाइड टू माडन थाट' में साइकोलौजी इन्वडम लिटरेचर', क्रेनक्रास की अंग्रेजी उपन्यास के विकासेतिहास पर पुरानी पुस्तक आदि-आदि।

हिन्दी उपन्यास

हिन्दी उपन्यासो पर प्रसगोपात्त चर्चा ऊपर आ ही चुकी है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि हिन्दी के आधुनिक उपन्यासो में इस ओर कोई बहुत सतर्कता

से काम नही लिया गया है। प्रेमच द के सीधे-सादे पात्रो में जो सजीवता थी वह जाकर प्रसाद के पूर्व योजित चरित्रो की भाँति यात्रिकता इन आधुनिको के चरित्र-चित्रण मे पाई जाती है। यानी उपन्यासो के पात्र स्वयम अपने आप घटनाओ में से विकसित होते हुए आगे नही बढते (जैसे नुट हैमसन के दोनो प्रसिद्ध उपन्यासो में) वरन् जैसे लेखक की इच्छानसार बढाये जाते है। लेखक के मन में एक पूर्व सकलित उद्देश्य है और उसकी पूर्ति के लिए कठपुतली की भाति पात्र नचाये जाते है। उसका परिणाम यह होता हे कि उपन्यास लेखक का मन ही सब पात्रो क मन पर हावी हो जाता है। कभी-कभी यह उपन्यास लेखक औसत और पाठक के मन से परिचालित होता है और पात्रो को बुरी तरह तोड-मरोड डालता है और असभाव्य घटनाएँ चरित्र क्रम-विकास गढ़ता है। हिन्दी में शायद ही अब तक कोई आलोचक स्वयम् औप-न्यासिक बना हो। वैसे हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने बाणभट्ट पर और 'शेखर' कार ने 'त्रिशकु' नाम से समीक्षा पर लिखा है परन्तु प्रथम में आलोचक पडित प्रधान है, दूसरे में कला-पारखी सौन्दर्य द्रष्टा। अत अपनी रचना को तटस्थ दृष्टि से, स्वयम् आलोचक बनकर तोलने का प्रयास बहुत कम हिन्दी उपन्यासकारो ने किया है। नतीजा यह हे कि आत्म-निणय के अभाव में अच्छे उपन्यास बहुत कम आगे आ रहे हैं जब कि उपन्यास नामक साहित्य प्रकार का यह युग माना जाता है और पाठको में उसके प्रति भूख भी कम नही।

अन्त में, इस लेख को म मुझमें के मनोविज्ञान के विद्यार्थी, समालोचक और उपन्यास-लेखक व्यक्तित्व के बीच मे एक काल्पनिक सवाद उपस्थित करना चाहता हूँ। सुविधा के लिए तीनो को १, २, ३, इन नामो से हम पुकारें। ३—मै उपन्यास लिखूँगा तो यह 'वाद' आदि का ध्यान भुलाकर जीवन जसा मुझे दीखता है, वैसा ही उपन्यास में दूंगा।

(१) जीवन दिखाई देना है, या जो जीवन आप देखने जा रहे है। इसमें निष्क्रिय और सक्रिय ज्ञान-प्रक्रियाओ का अन्तर पडेगा।

(२) और देखने में दृष्टिकोण निहित है और दष्टिकोण स्वयम् कई परि-स्थितियो और सामाजिक कारणो की उपज है। अत जीवन का कौनसा पक्ष आप देखेंगे। इस पर उपन्यास की साहित्यिकता की कसौटी बहुत कुछ निर्भर करेगी।

(३) नहीं, मै समाज-विमुख उपन्यास नहीं रचूगा। म समाज जीवन की नित्य प्रतिदिन की समस्याओ को छूना चाहता हूँ। उन पर प्रत्यक्ष आघात करना चाहता हूँ। मै उपदेशक नही बनूगा। न पाठको की मर्जी से चलूँगा।

(१) पाठक को आप इतना त्याज्य क्यो मानते है? शायद मोपाँसा ने एक बार कहा था कि 'जनता' जनता तो कई तरह के गुट्टो की बनी हुई है, जो कि

हम लेखकों से कहती हैं—'हमें सन्तोष दो' 'हमारा मनोरंजन करो', 'हमारे हृदयों को छुओ', 'हमें रुलाओ', 'हमारे विचारों को जाग्रत करो'। इसी कारण से एक मनोवैज्ञानिक जन-मनसा का भी केवल अध्ययन करना चाहता है, उसी वृत्ति से जैसे कोई वैज्ञानिक अपने विषय का अध्ययन करता है। उस विषय के प्रति मोह अनावश्यक है। टी० एस० ईलियट का कलाकार की तटस्थता का सूत्र 'जो कलाकार निर्माण करता है वह अनुभूति करने वाले कलाकार से भिन्न है। जितनी अधिक यह भिन्नता होगी, उतनी ही सफल कलाकृति होगी।'

(२) परन्तु ईलियट के इस मन्तव्य का वर्गीय विश्लेषण करने पर उसमें भी सिवा धनिक-वर्गोचित दम्भ और व्यक्तिवाद के अधिक क्या मिलेगा? यह बौद्धिक सहानुभूतिमात्र क्या कलाकृति में सजीवता उँडेल सकती है? शेखर के दो भागों में एक या दो स्थान पर केवल देश-दशा का जिक्र आता है। अन्यथा वह सारी राष्ट्रीय घटना-विघटना से अप्रभावित, निरा शशि-शारदा अन्य भद्र महिलाओं के चक्कर में ही घूमता रहता है, जैसे चन्द्र प्रत्येक राशि चक्र में! दो-तीन स्थलों पर आर्थिक समस्या का भी जिक्र है, पर वोडहाउस के हास्य-रस के चरित्रों मे रेमिटेंस चैपीज' की भाँति, वह समस्या भी किसी निकट या दूर की मौसी, बुआ, फूफी के मनिआर्डर से हल हो जाती है। प्रकाशकों पर व्यंग्य अच्छा है पर शेखर की समाज-विज्ञान पर पुस्तक भी कैसी असामाजिक है? उस हालत में शेखर कुछ कुछ 'निहिलिस्ट' जान पड़ता है। और यही शेखर की हार है।

(३) आपकी आलोचना इतनी अधिक निरुत्साहजनक है कि इन सब आक्षेपों से बचते-बचते मैं शायद ही उपन्यास-रचना कर पाऊँगा। इसलिए सबसे अच्छी बात यह है कि संस्कृत वचनानुसार पुत्री का पिता अन्य होता है और भोक्ता अन्य; उसी प्रकार से मैं अपनी चीज लिखूँगा। आप उसे चाहे जो कहते रहिये। अच्छा आलोचक जी राम-राम!

साहित्य-संदेश के अगस्त १९४५ के उपर्युक्त शीर्षक के मेरे लेख पर संपादकीय टिप्पणी द्वारा यह कहा गया कि हिन्दी-उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता पर विस्तृत आलोचना मैं लिखूँ। उसी बात को लेकर मैं आगे हिन्दी के आधुनिक करीबन २० औपन्यासिकों को चुनकर, उन पर अपने अभिमत को व्यक्त करने का प्रयत्न इस लेख में करूँगा। साथ ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास किन अवस्थाओं में से गुजरा और गुजर रहा है इस पर विस्तृत प्रकाश अंत में डालूँगा।

प्रेमचन्द पूर्व के 'परीक्षा गुरु' से 'मंगल-प्रभात' तक के उपन्यास बहुत कुछ बृहत्कथा के आदर्श पर थे। पाठकों के कौतूहल को जागृत रखना, यही उनका प्रधान उद्देश्य था। अतः देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी की ऐयारी, तिलस्मी-

जासूसी रचनाओ ने हिन्दी प्रचार की दृष्टि से चाहे बहुमूल्य सेवा की हो, उनमे लेखक का पात्रो के प्रति रुख कुछ ऐसा है कि कथा का घटना प्रवाह अविच्छिन्न रहे, पात्र मरते जीते चले जायँ—असम्भव सम्भव होता रहे—किसी भी प्रकार से अरबोपन्यास के नायक की भाति 'आगे क्या हुआ ?' यह पाठक की चिरन्तन जिज्ञासा अतृप्त रखी जाय, लहकाई जाय और आगे बढ़ाई जाय। 'रक्तमडल' या 'चन्द्रकान्ता सतति' में इसी कारण से न तो नायक-नायिका परस्पर मन को समझने का प्रयत्न करते है और न कोई सामाजिक विपत्ति, परिस्थितिजन्य बाह्य विरोध या दबाव पात्रो म अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न कर देता है। सब कुछ इस प्रकार लेखक की इच्छानुसार घटित होता जाता है, मानो उस कथा-पात्र को ससार में स्वय चलने की शक्ति ही न हो। एक प्रकार से ऐसे जडीभूत, गतिहीन वातावरण मे मन का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता।

(१) प्रेमचन्द और (२) प्रसाद—'मनोवैज्ञानिक गुत्थी' को आधार मानकर कहानी लिखने का आरम्भ हिन्दी में प्रेमचन्द ने किया, जैसा कि उन्होने स्वय 'ग्राम-जीवन की कहानियाँ' की भूमिका में कहा है। व्यापक माननीय सहानुभूतियो से प्रेमचन्द का भावुक हृदय सदा भरा रहने के कारण, सेवा सदन से गोदान तक के पात्रो के सामाजिक परिपार्श्व को कहीं नही भूलते। उनके पात्र इसी कारण 'सजीव' होते हैं। जब जीव है तो उन्हे मन है। मगर उनमें से कई है जिन्हें अपना मन मारना पडता है। मन है कि होरी 'गोदान' करे, पर 'छ' सौ पृष्ठो के अन्त तक होरी की 'मन की मन ही माँहि रही'। यह क्यो—इस कारण मीमासा में उपन्यास में मनोवैज्ञानिकता प्रेमचन्द में शुरू हो जाती है। जब समाज और व्यक्ति का सघर्ष है, तो वह प्रेमचन्द के निकट व्यक्ति के सघर्ष के रूप में प्रधान होकर सामने आया है। सेवा-सदन की नायिका की पति द्वारा उपेक्षा, रगभूमि के सूरदास का अन्य पात्रो से सम्बन्ध, गबन के नायक का पाप की दृढ़ धारणा से भागने का प्रयत्न, अपने ही अन्तर्द्वन्द्वो से प्रपीडित गोदान का मि० मेहता, और निर्मला के वैधव्य की परिस्थिति से उत्पन्न समस्याएँ। इन सब उदाहरणो में प्रेमचन्द व्यक्ति पात्रो की आत्मा में बैठते है, उनके अनुभाव आवेग, विचार-विकारो के सघर्षों को पकडते है, परन्तु एक पात्र का अन्य पात्रो से सामाजिक और वैयक्तिक सम्बन्ध प्रेमचन्द के उपन्यासो में मनोवैज्ञानिकता उत्पन्न करता है। इसमें समाज को वे एक 'रगभूमि'—गणित में दिए हुए निश्चित परिणाम की भाँति—अपरिवर्तनीय मान सकते है। फलत जो भी परिवर्तन उपन्यास में उत्पन्न होते है, वे पात्रो के ही हृदय परिवर्तन, आत्मिक पश्चात्ताप या ऐसी ही किसी घोर घटना-विघटना से निर्मित होते है। फलत व्याख्यान सुनकर वेश्या-वृत्ति से पराङ्मुख होकर 'सेवा-सदन' की नायिका अपने मौलिक सतीत्व में प्रतिष्ठित हो उठती है और 'गबन' का नायक परिस्थितियो के विचित्र तर्क से पापी से

पुण्यात्मा सिद्ध हो जाता है, निर्मला अपनी प्रत्येक कृति का समर्थन खोजने में विफल पाठकों की करुणा की अभ्यर्थिका बन जाती है। और इसी प्रकार से एक ऐसे भावात्मक, नामाख्यहीन, अशरीरी तत्त्व की सृष्टि होती है, जिसे प्रेमचन्द आदर्श मानते हैं और वही पात्रों को अन्तत पुन लेखक की इच्छा पर नचने के लिए बाध्य करते हैं। यही प्रेमचन्द के उपन्यासों की सबसे बडी कमजोरी और सबसे बडी सार्थकता है। 'घृणा के प्रचारक' से लगाकर 'नोन तेल लकडी के लेखक' तक सब प्रकार की बातें उनकी कला को 'उपयोगितावादी' सिद्ध करने में कही गईं। फिर भी जन जन के मन के वे लोकप्रिय कलाकार इसलिए बने कि प्रेमचन्द की समस्त पात्र-सृष्टि अन्तत उनके युग के भाव-अभावों की स्वप्न पूर्ति का माध्यम बनी। परिणामत प्रेमचन्द के सभी पात्र साधारण है, अति साधारण। अत. उन्होंने जिस व्यक्तिवादी मनोविज्ञान का आश्रय लिया—उसमें केवल विश्लेषण तक ही उपन्यासकार सीमित रहा। प्रकाशचन्द्र गुप्त अपने लेख 'गोदान एक नजर' में कहते हैं —'शायद मध्य-वर्ग और उच्च वर्ग के पात्र' में प्रेमचन्द उतनी सफलता न पा सके। इनको हम विलासी और अकर्मण्य ही पाते हैं। स्त्री का मन भी सर्वत्र प्रेमचन्द नहीं समझ सकते। प्रेम के दृश्य तो उनके असफल से है। किन्तु नीच ग्रामीण का हृदय भारत में गान्धी को छोडकर प्रेमचन्द के बराबर कौन समझ सका है? होरी, भोला, गोबर, धनिया, सिलिया? प्रकाशचन्द्र जी ने अपने उस लेख में प्रेमचन्द को मनोविज्ञान के कुशल आचार्य माना है और 'स्ट्रीम ऑफ कॉशसनेस' के आचार्य फ्रायड को कहकर प्रेमचन्द का टेकनीक वही है, ऐसी गोलमोल बात कह डाली है। अहमदअली ने कहा था कि 'प्रेमचन्द की सारी मानसिक क्रियाओं की प्रवृत्ति देश के परम दरिद्र निवासियों की ओर हो रही थी। परन्तु इसका अर्थ डा० रामविलास की 'प्रेमचन्द' पर लिखी पुस्तक में जिस प्रकार उनमें वे खुद भी नहीं सोचते थे ऐसी प्रगतिशीलता के दर्शन करना नहीं। प्रो० अशफाकहुसैन ने कहा था कि प्रेमचन्द जी साम्यवादी तो थे, परन्तु उग्र और कट्टर साम्यवादी नहीं।' संक्षेप में, प्रेमचन्द जी हिन्दी उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता लाने वाले प्रथम प्रमुख रचनाकार माने जा सकते हैं। परन्तु फिर भी मनोवैज्ञानिकता बहुत स्थूल अर्थ में प्रेमचन्द में प्रयुक्त मिलती है।

सन १९३८ में 'वीणा' में 'तीन अमर कलाकार' नामक एक लेख में मैंने प्रेमचन्द, प्रसाद और शरतचन्द्र का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया था। प्रेमचन्द समय के लेखक थे, प्रसाद हृदय के—इस छोटे से सूत्र से मैंने उसमें दोनों के वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दृष्टिकोणों का अन्तर व्यक्त किया था। प्रसाद के दो ही उपन्यास हैं—कंकाल और तितली। उनके नाटकों की भाँति इनमें भी सहसा-परिवर्ती घटना-चक्र, पात्रों का नाटकीय राग-विराग, एक-सी सम्भाषण शैली और काव्यात्म प्रकृति-वर्णन पाये जाते

है। प्रसाद के निकट समस्या एक ही है और वह है मानव का नियति-सघर्ष ! दु ख मौलिक है, अत: उसेकी दशा असम्भव है। सामाजिक विषमता में प्रसाद व्यक्ति के दु ख का कारण-सरणि नही खोजते। प्रेम-निराशा, नायिकाओ की अतृप्त लालसा, पात्रो के परस्पर विचारो में पार्थक्य—यही इस दु ख का मूल कारण है। अत समाधान कुछ नही है। समाधान बौद्धो की भाँति दु ख से समझौता कर लेना है। कही-कही धर्म-चर्चा भी हो जाती है। परन्तु कही भी (सिवा घटी के) एक भी पात्र ऐसी स्पष्टता से कोई मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इकाई बनकर प्रसाद में सामने नहीं आता कि प्रसाद की शैली के मनोविज्ञान का कुछ निश्चित स्वरूप बतलाया जा सके। पात्र लेखक के 'मूड्स' में तैरते-उतराते रहते है—कही वे अत्यधिक प्रसन्न हैं, कहीं अत्यधिक चिन्तित। प्रसाद आधुनिक परिभाषा में बहुत कुछ बर्ताव वादी मनोवैज्ञानिक की भाँति पात्रो के वाह्यान्तर आदि के विवरणपूर्ण वर्णनो में खो जाते है—उनके भीतर सघर्षों तक जैसे वे धीरज नहीं रख पाते। कतिपय कहानियो में और कामायनी में जैसा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रसाद में मिलता है वैसा न तो उनके नाटको में है और न उपन्यासो में ही। प्रसाद जी एक उच्चवर्गीय श्रीमान् कला रसिक की भाँति भाषागत नक्काशो, व्यक्तिगत रुचि-अरुचि, दर्शन और प्राचीन इतिहास के ही चक्कर में इतने फँसे रहे कि उनका मनोविज्ञान रूढ़, अतएव स्थिर रहा। प्रसाद के उपन्यासो में अन्य चमत्कार हो, परन्तु मनोवैज्ञानिकता में कोई विशेषता नही मिलती।

प्रकृतिवादी (३) उग्र, (४) निराला और (५) भगवतीचरण वर्मा—वैसे तो कौशिक, चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जन आदि कई उपन्यासकार माध्यमिक काल में हिन्दी मे लिखते रहे, पर ऊपर दिये हुए कवियो के नाम उनकी अनोखी शैली के कारण विशेष उल्लेखनीय है। उग्र और निराला हरएक ने हिन्दी में आधा दर्जन उपन्यास दिये होगे। दोजख की आग, बुधुआ की बेटी, चन्द हसीनो के खतूत, जीजीजी—ये उपन्यास मुझे इस समय याद आ रहे है। अपनी छलछलाती, पनी, व्यगपूर्ण शैली में भावनाओ के उभार उभारकर रखने में उग्र जी लाजवाब है। परन्तु उन्होने समाज के एक ही अग पर अधिक वार-प्रहार किया है। पाठको की रुचि वे बखूबी समझते है और पात्रो के मानसिक विकास में स्वय बाधा बनकर नहीं खडे रहते। अत. उनके कई पात्र अति भावुक ह और मानसिक दृष्टि से रुग्ण होने पर भी उनका चित्रण अतिशय स्वाभाविक उन्होने किया है। परन्तु अन्तत विचारो मे प्राचीन आदर्शों की मर्यादा की रक्षा अनिवाय मानते रहन के कारण 'जीजीजी' में आधुनिक नारी के प्रति वे असहिष्णु हो उठे ह। प्रेमचन्द का आदश यदि टाल्स्टाय था तो उग्र का आदश उन्ही के शब्दो म महाभारतकार है। निराला महाकवि के नाते प्रसिद्ध है—उनके उपन्यास उतने

सफल नही। लिली, प्रभावती, निरुपमा, कुल्ली भाट, बिल्लेसुर बकरिहा आदि में अन्तिम कृतियाँ (यदि उन्हें उपन्यास कहा जाय) उत्तम व्यगचित्र प्रस्तुत करती है । परन्तु कही भी पात्र को समग्रता से स्पष्ट रूप से वे सामने नही ला पाते। कुछ आधुनिकता का समथन उनकी रचनाओ में मिलता है । परन्तु न तो वैसी मनोवैज्ञानिक समस्या-विशेष है—न समाधान की ओर कोई विशेष प्रयत्न। वे अन्तर्द्वंद्व से प्रपीडित व्यक्ति की भाँति जल्दी-जल्दी मे उपन्यास पूरा कर डालते है। नारी उनके निकट देवी है या मा ! बिना किसी मानसिक ग्रन्थि के वे मात्र नारी को नहीं सोच पाते। शैली काव्यात्मक होने के कारण कही कहीं सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक छटाएँ मिल जाती है।

उपर्युक्त दोनो लेखको से भिन्न 'चित्रलेखा' और 'तीन बरस' का लेखक है। चित्रलेखा मुख्यत समस्या उपन्यास है। पाप और पुण्य, वेश्या और सन्त, सयम और भोग, ज्ञान और आवेग, प्रेम और वासना, धम और अधर्म, श्रद्धा और नास्तिकता, स्वामित्व और सेवा, ब्रह्मचर्य और गृहस्थी का पद-पद पर सघर्ष इस छोटे से उपन्यास में उपस्थित है। सवादो मे बडी कुशल तर्क मीमासा है। परन्तु लेखक का दृष्टिकोण अन्तत स्पष्ट न होने के कारण अनातोल की थाया के प्रति जिस सहानुभूति से पाठक का मन बरबस भर आता है, वह चित्रलेखा के प्रति नहीं होता। चित्रलेखा मे मनोवैज्ञानिकता लाने का लेखक ने बहुत सुन्दर प्रयत्न किया है—परन्तु वह वाद-विवाद से आगे नहीं बढ पाती। वह कथा की वस्तु को मज्वर से भरकर आगे नही ठेलती। अत· वह मनोवैज्ञानिकता बहुत ही कृत्रिम, काठ-खुदी-सी लगती है। 'तीन बरस' में इससे अधिक चतुराई से मनोवैज्ञानिकता का आश्रय लिया गया है। परन्तु फिर भी लेखक एक समाज शास्त्री की भाँति प्रश्नो को उठाकर उन्हें छोड देना चाहता है, उनकी तह में पहुँचने की कोशिश नही करता। उसका उन प्रश्नो के प्रति रुख एक अहतापूर्ण कलाकार की तीव्र उपेक्षा का अधिक है बजाय एक मनोवैज्ञानिक के। अतः 'एक दिन' का गद्यपद्य बहुत गडबड है। परस्पर विरोध में परस्पर विरोध के आनन्द के खातिर ही लेखक उलझता जान पडता है और यह मानसिक दशा बहुत स्वस्थ नही। जिस नयेपन के साथ भैसागाडी के कवि ने प्रेम सगीत से अपनी कविता को मोडा था, वह गद्य में नही निबाहा गया। (इसके बाद 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' एक सफल कृति वर्मा जी ने दी)।

(६) वृन्दावनलाल वर्मा और (७) राहुल साकृत्यायन—यद्यपि दोनो व्यक्तियो के रचनाकाल और दृष्टिकोण में करीबन एक पीढी का अन्तर है, फिर भी दोनो को साथ साथ इसलिए लिया है कि दोनो ने ऐतिहासिक उपन्यास हिन्दी में दिये हैं जिनकी हिन्दी में बहुत कमी है। वृन्दावनलाल जी के 'विराटा की पद्मिनी' और 'गढ़-कुण्डार' में प्रच्छन्न रूप से लेखक की मनसा पर जो अतीत के प्रति मोह है वही व्यक्त हुआ

है। 'कुण्डलीचक्र', 'लगन', 'कोतवाल की करामात' आदि में कुछ सामाजिक दृष्टि से भी उपन्यास रचना का प्रयत्न वर्मा जी ने किया है, परन्तु बावजूद 'विचार-विमर्श' मे सद्गुरुशरण जी अवस्था की लगन की प्रशसा के और 'हिन्दी के सामाजिक, उपन्यास नामक पुस्तक मे पृ० १११ पर वर्मा जी को हिन्दी का शरच्चन्द्र कहने के, मुझे तो वृन्दावनलाल जी का पात्रो से अधिक घटनाओ को, उनके नाट्यात्मक प्रत्यावर्त्तनो को महत्त्व देना विशेष रुचा नही। ऐतिहासिकता उपन्यास में होने पर भी चरित्र-चित्रण कितना सफलता से हो सकता है यह राखाल बाबू के मूल बँगला 'शशाक' 'करुणा', 'धर्मपाल' में, वा० ना० शाह की मूल मराठी और हिन्दी मे अनूदित 'सम्राट अशोक' और 'छत्रसाल' में, क० मा० मुशी की मूल गुजराती 'पाटणनी प्रभुता', 'पृथ्वीवल्लभ', 'लोपामुद्रा' आदि में पाया जाता है। वृन्दावनलाल जी अनावश्यक वर्णनो में स्काट की भाँति उतरते हे, और पात्रो के मनोव्यापार गौण हो जाते है। फिर पात्रो की चर्चा होती ह तो अति भावुकता से। पूरा उपन्यास कई घटनाओ के थेगरो का एक अद्भुत 'पैचवर्क' बन जाता है। प्रसाद जी के उपन्यास जिस दोष से असफल है, वृन्दावनलाल जी के उपन्यासो मे भी वही सहसा-परिवर्ती खड खड मे विकीर्ण, सामग्री का अभाव पाये जाने वाले पात्र मिलते हे।

राहुल वृन्दावनलाल जी की अपेक्षा इस बात में अधिक कुशल है। 'सिह सेनापति' और 'जय यौधेय' यह दो ही उपन्यास ऐतिहासिक भित्ति वाले है, 'जीने के लिए' और अन्य 'सोने की ढाल' आदि सामाजिक काल्पनिक है परन्तु सवत्र राहुल जी अपने जिस उद्देश्य को लेकर चले हे उस दृष्टि से पात्रो को उभारने-सँवारने में उन्होने कोई कोरकसर बाकी नहीं छोडी है। प्राचीन भारत के विषय में राहुल जी की अपनी धारणाएँ हैं (पुरातत्त्व और नृसस्कृति विकास विज्ञापन के आचार्यों में उस विषय में एकमत्य नहीं। परन्तु आदिम सभ्यता की पाश्वभूमि पर चरित्रो को उठाने मे कही-कहीं राहुल अपने आधुनिक सस्कारो से अभिभूत होकर अनैतिहासिकताएँ कर जाते है, प्रचार और कला का मिश्रण उनकी सोद्देश्य रचनाओ में स्पष्ट परिलक्षित है। अत' पात्रो के मन मे शायद ही राहुल जी कही गहरे उतरे हे। वे परिस्थितियो के जाल को बडी ही सुदृढ़ परन्तु सूक्ष्म रेखाओ में पात्र के आसपास बुन देते है। परिणामतः पात्र उसमे एक ऐतिहासिक अनिवार्यता के तर्क से बढ़ता चलता है। मानो उस पात्र की परिस्थिति से ऊपर अपनी स्वतन्त्र प्रज्ञा अथवा प्रत्यभिज्ञा नही। वैज्ञानिक भौतिकवाद मे राहुल जी का विश्वास अनजान में उनकी उपन्यास कला को घोटकर, उनमें से तत्त्व-जिज्ञासु के तीव्र पूव-ग्रहो को सामने ला रखता हे। इतिहास गौण हो जाता है, उस पर लेखक के मतव्य प्रधान। ऐसी अवस्था में मनोविज्ञान को, पर्याप्त अवकाश नहीं मिलता। राहुल के सभी उपन्यास एक प्रकार से नायिका-शून्य है। जीवन

के कर्म-पक्ष को प्रधानता देने के कारण पात्रो का भावपक्ष कमजोर पड जाता है। अभी हिन्दी मे अच्छे एतिहासिक उपन्यासो की आवश्यकता बराबर बनी हुई है। हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'बाण भट्ट की आत्मकथा' कुछ अशो में इस अभाव की पूर्ति कर पायेगी ऐसी मुझे आशा है। परन्तु भारतीय इतिहास इतना वहद् और विशाल है, लेखको को उससे स्फूर्ति क्यो नही मिलती, यह आश्चर्य है।

(८) जैनेन्द्रकुमार और (९) सियारामशरण गुप्त—जैनेन्द्रकुमार के उपन्यासो में एक प्रकार से मनोवैज्ञानिकता, विशेषत भारतीय नारी अन्त.करण का एक बहुत ही सहानुभूतिपूर्ण चित्र मिलता है। 'शुतुर्मुर्ग पुराण' के लेखक ने जैनेन्द्र के सभी पात्रो को अतृप्त काम से पीडित और अन्य आलम्बनो द्वारा रति भाव की पूर्ति करने वाले सिद्ध किया है। नन्ददुलारे वाजपेयी जी भी जैनेन्द्र के पात्रो को अस्वस्थ, अशरीरी, अस्वभाविक मानते है। अज्ञय ने कल्याणी पर अपना मतव्य देते हुए उसकी नायिका में 'आत्म प्रपीडन' भाव परिलक्षित किया है। किन्तु देवराज उपाध्याय और डा० देवराज ने जैनेन्द्र के पात्रो का अधिक सहानुभूति-पूर्ण विवेचन किया है। इन सब मतो के होते हुए भी जैनेन्द्रकुमार के उपन्यासो की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षा करनी होगी तब निस्सशय हिन्दी के घटना-प्रधान उपन्यास को पात्र-प्रधान बनाने का श्रेय उन्हे देना होगा। पात्र भी दो ही चार चुनकर, उनके अन्तर्द्वन्द्वो में पैठने की लेखक की शैली हिन्दी में अपने ढग की एक है। और उनके बाद के सभी औपन्यासिको ने कम-अधिक प्रमाण में उसे ग्रहण किया है। गांधीवाद मे जैनेन्द्र जी की आस्था, उनमें के कलाकार को खा गई यह दश्य स्पष्ट है। जो उनके पात्र रक्त मास के थे आरम्भिक कथा उपन्यासो में, वे अन्तिम उपन्यासो में आकर अधिकाधिक निराकार, ज्यामिती की आकृतियो की भांति काल्पनिक और प्रमेयों को सिद्ध करने की सुविधा की दृष्टि से केवल अकित, जान पडने लगे है। परिणामत उनमें का मानवीय अश कम होता जाकर चिन्तन के प्रतीक मात्र वे बचे रहते हैं। जब लेखक अपनी चिन्ताधारा को स्पष्ट करने के हेतु पात्र बनाता-बिगाडता है, तब उसमें मानवीय यथातथ्य, स्वाभाविकता की कसौटी से वास्तववाद को ढूंढना व्यर्थ होगा। कल्याणी पढ़कर मैंने जो पत्र जैनेन्द्र जी को लिखा उसमें उस पत्र के 'एबनार्मल' होने का जिक्र था—जैनेन्द्र जी ने उत्तर में लिखा 'वैसे आज नार्म पर कौन है? नार्म ही कहां निश्चित ह?' 'सुनीता' और 'त्याग पत्र' में रूढ़ नीति मूल्यो को जो चुनौती है वह मनोविश्लषण के मोह मे पडकर लेखक ने कल्याणी मे आकर जैसे मन्द कर दी है। इस बीच में 'प्रस्तुत प्रश्न' का सभी प्रश्नो को अहिसा की मार्फत से देखना शुरू हो गया है और मनोविज्ञान अध्यात्म की कुहेलिका में अवैज्ञानिक हो गया है। अब जैनेन्द्र कोई उपन्यास कभी लिखगे इसमें भी बहुत शका है। उनमें

की सृजन शक्ति अब जैसे दूसरे मार्गों में उपन्यास-कला की दृष्टि से कहे तो 'बहक' गई है। नेता जैनेन्द्र ने कथाकार जैनेन्द्र खो दिया है।

गांधीवाद के प्रबल संस्कारों के दूसरे उल्लखनीय औपन्यासिक हैं सियारामशरण गुप्त ! उन्होंने कवि की आत्मा पाई है, अत वे जैनेन्द्र की भांति दार्शनिकता के फेर में इतने जल्दी खो नहीं जाते। रस की सृष्टि उनके निकट अधिक सार्थ है, बनिस्बत ब्रह्म जिज्ञासा के। परिणामत उनके दो ही उपन्यास 'देखन में छोटे लगें, घाव करत गम्भीर' हैं। 'नारी' और 'गोद' में एक ग्रामीण स्त्री जमना की पति-भक्ति का पुत्र मे केन्द्रित होना और गोद में दो भाई दयाराम और शोभाराम के भ्रातृ-प्रेम के बीच में पार्वती के मातृत्व-भाव का एक परस्पर-बन्धक का काम करना बहुत ही सुन्दर शैली से चित्रित हैं। जहाँ जैनेन्द्र के पात्रों का मनोवैज्ञानिक निरूपण कुशल सम्वादों द्वारा होता है, वहाँ सियाराम जी की रचना में नियमित प्रसगों का चुनाव, अन्य पात्रों का प्रधान पात्रों से सम्बन्ध तथा स्थल स्थल पर दी हुई अकारण उपमाओं द्वारा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किये गये है। जैनेन्द्र जी ने अहिंसा अथवा अनासक्ति को उसके अतिवादी छोर तक एक कठोर तार्किक की भांति पहुँचाया है। परन्तु सियाराम जी ने अपने पात्रों को सर्वत्र स्वाभाविकता की मर्यादा मे सुरक्षित रखा है। अत कहीं भी वे ग्रामीण आदर्शों को अतिक्रमित नही करते। सुनीता के हरिप्रसन्न के सम्मुख विवस्त्र होने या कल्याणी के या बुआ के जीवन के अन्तिम भागों में सामाजिक दृष्टि से अध पतित होने की जो असाधारण परिस्थिति जैनेन्द्र उपस्थित करते हैं, सियाराम जी के उपन्यासों में वैसी स्त्री-सामने अपने आती ही नही। सियाराम जी नारी सृष्टि वैसी आवेगों से आविष्ट नहीं, और न ही पुरुष पात्र अन्तर्द्वन्द्वों से प्रपीडित। जैनेन्द्र जहाँ मनोविश्लेषक है, सियाराम जी रूढ़ समाज मर्यादा में व्यक्ति की मानसिक दुर्बलताओं का बहुत सुन्दर चित्र उपस्थित करते हैं। अत. सघर्ष जैनेन्द्र का प्रिय विषय है। रुद्ध आत्मा की विद्रोही छटपटाहट, असन्तोष और घुमडन से उपजी तकलीफ का चित्रण उन्हें कहीं कहीं दस्तोवस्की के निकटतम पहुँचा देता है। परन्तु सियाराम जी की नारी टाल्स्टाय की अन्ना की भाँति है। उनके भीतर एक दृढ़, अटूट आस्तिकता है। अत सघर्ष होता भी है तो भावनाओं के ही बीच में, भाव और बुद्धि, विकार और विचार के बीच में नहीं। दोनों की शैली पर शरद् बाबू का प्रभाव है—चरित्र के प्रति दोनों ही करुणा-कातर हैं—प्रेमचन्द की भाँति चरित्रहीन को किसी भी उपाय से चरित्रपूर्ण सिद्ध करने की चिन्ता में व्यग्र नहीं और न ही उग्र या नागर की भाँति उसके प्रति व्यंग वितृष्णा से क्रुद्ध या झुँझलाहट से भरे।

(१०) अज्ञेय और (११) इलाचन्द्र जोशी—अज्ञेय के 'शेखर' के केवल दो ही भाग अभी प्रकाशित हुए हैं। और पता नहीं—तीसरा भाग क्या और

देश-प्रेम और मृत्यु के सम्बन्ध में इन विभिन पात्रो के विचारो को उपस्थित किया था। मेरा निष्कर्ष था कि शेखर बहुत कुछ असामाजिक है और इस कारण से वह क्रान्ति-नेता नहीं बन सकता।

इलाचन्द्र जोशी के 'घृणामयी' से 'सरस्वती' से धारावाहिक चलने वाले 'निर्वासित' तक के उपन्यासो में अज्ञेय की ही भाँति एक व्यक्तिवादी कलाकार के दर्शन होते है। अज्ञेय यदि फ्रायड की धारणाओ से अधिक प्रभावित है तो इलाचन्द्र जी युग के (देखिये विजनवती की भूमिका और साहित्य सर्जना में शरच्चन्द्र पर लेख) युग भारतीय अध्यात्मवादियो के बहुत निकट आता है चूंकि वह एक रहस्यात्मक चिर-उपस्थित सर्वान्तरात्मा म विश्वास करता है। परन्तु 'पर्द की रानी' और 'प्रेत और छाया' में लेखक का मौन विकृतियो पर अटकना पुन उसी असामाजिकता मे लेखक को डाल देता है, जिसका एक रूप अज्ञेय में है। सन्यासी इस दृष्टि से इलाचन्द्र का सबसे सफल उपन्यास हे। भारी शैली की कुछ अस्वाभाविकता छोडकर उसमें लेखक अपने प्रतिपाद्य के प्रति मनोज्ञावैनिक दृष्टि से बहुत सचेष्ट और जागरूक है। यदि अज्ञेय उद्धत अह के चित्रण म सफल है तो इलाचन्द्र आहत अहशून्यता के। उनके पात्र हीन-ग्रन्थि से पीडित है। अत वे कई स्थलो पर अनावश्यक कडौस और अनास्था व्यक्त करते चलते है—जो कि आधुनिक युग का एक अवश्यम्भावी अभिशाप हे। क्या ही अच्छा होता यदि ये पात्र अपनी झुँझलाहट कुछ व्यापक सामाजिकता पर भी उँडेल देते।

साम्यवादी दल (१२) यशपाल (१३) अञ्चल और (१४) कृष्णदास—यशपाल ने जितना अच्छा लिखा हे, उतना ही उस पर बहुत कम समीक्षा रूप में कहा गया है। यशपाल के दो उपन्यास है—दादा कामरेड और देशद्रोही। दूसरा पहले से अपेक्षाकृत अधिक सफल है। पहले में रोमांस और साम्यवाद घुलमिल नही पाये हैं। दूसरे मे वे दोनो एकात्म हो गये हैं। पहला उपन्यास शरद् बाबू के डा० सव्यसाची के आदश के कारण अतिरजित चरित्र के उत्तर में गढा गया। शेखर द्वितीय भाग के अन्तिम अशो में जिस सेनापति की रहस्यमयी हलचलो का उल्लेख है, दादा कामरेड का भी मूलाधार वही व्यक्ति जान पडता है। परन्तु दादा कामरेड का पुन उतना ही कठोर आदश और मानवोपरि हो गया है जितना डा० सव्यसाची का। यशपाल की शैली बहुत आकर्षक है। प्रेमचन्द के बाद यशपाल में उतने ही यथार्थवादी आकर्षक, सजीव वर्णन मिलते है। देशद्रोही में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत सफल कथा है। यशपाल के सभी नायक (तर्क का तूफान कहानी सग्रह भी देखिए) दुर्बल होते हैं। नारी सबल बन जाती है। शैल और चन्दा इसी प्रकार की सृष्टि है। जो कि शरच्चन्द्र की आभा और कमला की बड़ी बहनें मात्र जान पड़ती है। यशपाल की

कला में सबसे खराब अंश वह है—जहाँ वह एक सतर्क प्रचारक की भाँति पात्रों के मुँह से वही बुलवाते हैं जो कि उन्हें ईप्सित है। परिणामत पाठक के मन में यह भाव पैदा हो जाता है कि हमारे साथ कोई गहरी साजिश की जा रही है। उपन्यास राजनैतिक उद्देश्य को लेकर लिखे न जायँ, यह मेरा मत नहीं, परन्तु उपन्यास में प्रचार बहुत अप्रत्यक्ष और अज्ञातरूप में हो। देशद्रोही में यह बहुत ही अधिक उग्र और स्पष्ट रूप में हुआ है। टण्डन को यह उपन्यास पसन्द आने का कारण भी यही है। मैं आशा करता हूँ कि इतनी लुभावनी, सरस शैली के साथ यशपाल अपनी अगली कृतियो में इस सम्बन्ध में अधिक फिक्रमन्द रहेंगे। आज के सभी औपन्यासिको में निस्सशय उनका भविष्य उज्ज्वलतम है क्योंकि मनोवैज्ञानिकता के लिए वे अन्य लेखको की भाँति खींचतान नही करते – सीधे अपनी बात कह जाते है जिसमें मनोवैज्ञानिकता अपने आप व्यक्त हो जाती है। खन्ना का चित्रण इस दृष्टि से हिन्दी में अभूतपूर्व है। मुल्कराज आनन्द के चरित्र जैसे जीवित, सामाजिकता लिये हुए और स्पष्ट होते हैं, यशपाल भी अपनी कुशल तूली से दो-चार रगो में सधे हुए हाथो से चुनी हुई रेखाओ में काफी बड़ा कमाल उपस्थित करते है। यशपाल का दूसरा दोष अनावश्यक विस्तार और पुनरावृत्ति है। शौकत उस्मानी की एक किताब है 'चार यात्री' और देशद्रोही के खन्ना का वजीरोस्तान से स्टालिनाबाद होते हुए रूस जाना यह वर्णन 'चार यात्री' से तौलकर देखने लायक है। शौकत उस्मानी अधिक प्रभावशाली हैं यद्यपि उनके चित्र सम्पूर्ण नहीं है। यशपाल 'डीटेस' देने जाते है और जैसे उसी में अटक जाते है।

'अचल' का हाल ही में एक उपन्यास 'चढ़ती धूप' प्रकाशित हुआ है जो कि इसी साम्यवादी परम्परा का उपन्यास है। परन्तु 'अचल' बावजूद उनके कवि होने के नाते अनावश्यक भावुकतापूर्ण वर्णनो, तूल दिये हुए अन्त रूखे बहस-मुबाहसो से भरे सवादो और भाषा के अटपटे प्रयोगो के तारा के चित्रण में सफल हैं। ममता में पुन वही भारतीय औपन्यासिक नारी के प्रति 'अधिक स्वप्न, तुपि अधिक कल्पना' वाला देवी भाव व्यक्त हुआ है। फिर भी नायक का मजदूरो में जाकर रहना और वहाँ के जीवन बहुत-कुछ यथार्थ के निकट है। मध्य वर्ग के पात्र के सस्कारो के साथ न्याय किया गया है और चरित्र चित्रण में काफी मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता से काम लिया गया है। परन्तु फिर भी उपन्यास अच्छा होते हुए भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसमें कई भूलें रह गई है—मोहन का चित्रण स्वाभाविक नहीं हुआ है। अन्त में जहाँ मूर्च्छाधीन नायिका के मन का चित्रण है—उसमें कई ' 'का प्रयोग करने पर भी अनावश्यक सगति और अस्वाभाविक तर्कयुक्तता बतलाई गई है। परन्तु 'अचल' के अगले उपन्यास अधिक प्रखर होंगे यह 'चढ़ती धूप' से पता चलता है।

श्रीकृष्णदास के दो उपन्यास छपे हैं। जिसमें से एक 'अग्निपथ' मैंने देखा है। इसमें भी कही, मजदूर जीवन को पार्श्व भूमि मानकर रमेश, प्रेम, लुई, रेखा, सोना के चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। परन्तु 'अचल' की भाँति इस लेखक का, मज़दूर जीवन से प्रत्यक्ष निकट सम्पर्क का अभाव तो नही जान पडता—परन्तु फिर भी अन्तिम भागों में साम्यवादी दल की राजनतिक गतिविधि का ब्योरा बहुत ही हानिकारक हो गया है। पुन पात्र ऐसे चलते फिरते हैं मानो किसी नशे से परिचालित। उनके और भी कोई मानवोचित आवेग-प्रवेग, आकर्षण-विकर्षण हैं—यह सब कुछ मानो लेखक ने भुला दिया। प्रचार न कला की हानि कर दी है। फिर कलाकृति में पहले कला अपेक्षित है—न कि प्रचार। प्रचार भी किस बात का किया है यह सब कुछ स्पष्ट नही होता। 'अग्निपथ' मे रोमांस और राजनीति अनघुल रूप मे गड्ड मड्ड की गई है। फलत मनोवज्ञानिक दृष्टि से पात्रो में नाटकीय परिवतन होते जाते हैं। रमेश और रेखा उन सब पात्रो में बहुत सजीव है परन्तु उपन्यास में 'यूनिटी' नहीं आ पाई है। मनोविज्ञान मन की एकात्मता को पहले चाहता है।

नये प्रकृतिवादी—(१५) पहाडी (१६) नरोत्तमप्रसाद नागर—श्रीकृष्णदास के 'अग्नि-पथ' की रेखा की अपेक्षा पहाडी के सराय की नायिका रेखा अधिक सशक्त, स्वस्थ और सजीव है। वह बद्धदेव बसु की 'आनन्दा' के स्थान म अनेक प्रमियो को अपनी ओर आकर्षित करती है। पुरुष की काम, प्रेम, वासना-आकर्षण आदि यौन-प्रवृत्ति की विभिन्न छटाओ का बहुत सुन्दर चित्रण पहाडी की उपन्यास तथा कहानी-कला में मिलता ह। परन्तु मनोविज्ञान पर अधिक जोर देने से कारण अनूपलाल मण्डल की मीमासा की आलोचना 'विशाल भारत' में करते हुए जैसे मैंने कहा था—मनोविज्ञान साधन है, साध्य नही—यह बात पहाडी भूल जाते हैं। कई स्थलो पर मार्मिक मनोविश्लेषण मिलता है, वह वैज्ञानिक सामाजिकता को लिये हुए है। उदाहरणार्थ प्रेम के सम्बन्ध में सराय पृ० २४०–२४७ पर यह मन्तव्य—यह प्रेम एक लाटरी वाला जुआ स्वीकार किया जा रहा है। वह खेल भी अन्त में भाग्य की पक्की दीवार पर टकराता है। नारी का अस्वस्थ रूप और उसके विचित्र हाव-भावों के लिए समान उत्तरदायी है। वह व्यक्ति नहीं। परिवार बढ़ता चला गया। कुछ पुराने विचारो की मजबत कडियाँ नहीं टूट सकीं। समाज और फैला। वे कीलें उसी भाँति रहीं और अन्त में परिवार जीर्ण होकर उन कीलो में झूलने लगे। कई परिवारों वाला समाज विचारो में अतीत की दुहाई देता रहा आदि आदि।

प्रथम प्रकृतिवाद उफान में सुधार का जोश था। 'उग्र' ने चाक्लेट पर लिखा, चाकलेट प्रथा मिटाने के मसीहा के आवेश म। वैसे ऋषभचरण और चतुरसेन ने वेश्या जीवन पर लिखा। जैनेन्द्र की मृणाल बुआ वेश्यात्व के प्रति जैसे हमारी

सहानुभूति को खींचने में लगी रही और हमारे पाप-पुण्य के बाट ही गलत बताने लगी। पहाड़ी ने बहुप्रेमित्व और बहुपतीत्व को समाज की एक स्वीकृत तथ्य (एक्सप्टेड फैक्ट) की भांति लिखा। नरोत्तम नागर ने एक क़दम आगे जाकर यह बतला दिया कि देशभक्त और देशभक्तिन सोभा और कोतवाल, शशि और आशा—निम्नमध्यवर्ग के ये आदर्श लोलुप अस्वस्थ मन के कीड़े एक न एक प्रकार से मानसिक वेश्या-व्यवसाय में ही लगे हुए हैं। 'दिन के तारे' अस्वस्थ, रुग्ण मन के पात्रों का अध्ययन प्रस्तुत करता है। इलाचन्द्र जोशी के पात्र यदि एक प्रकार की अस्वस्थता से प्रपीड़ित हैं तो नागर के दूसरी। नागर के पात्रों की सफाई मे इतना कहा जा सकता है कि उनकी अस्वस्थता समाज-निर्मित है, व्यक्ति की स्वय निर्मित नहीं। पैनी व्यगात्मक शैली के कारण नागर का यह अकेला उपन्यास नव्य-प्रकृतिवादियो की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है। आज के कृत्रिम समाज जीवन और विषमताओ ने ऐसी गुत्थियाँ और झमेले हमारी जिन्दगी में पदा कर दिये है कि जो नागर के मत से सुलझ नही सकतीं। अत. उन पर हँसना यही एक मात्र उपाय बाकी है। उपाय कछुआ है परन्तु यह भी एक रुख है।

इस दल के लेखको ने जहाँ समाज के वर्जित प्रदेश का यथार्थवादी रोमांस उघाडकर एक ओर समाज का हित किया है, वही अश्लील होने की बदनामी सहकर भी एक अनहित किया है। कला के क्षेत्र को अति वैज्ञानिक बनाकर उन्होंने उसकी सामाजिक उपयोगिता को मर्यादित कर दिया है। एक किशोर या किशोरी के हाथ म इनकी पुस्तक अनाश्वस्त भाव से ही दी जा सकती है।

(१७) अन्य सर्वदानन्द वर्मा, ऊषादेवी मित्रा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि—अब अन्त में बचे रहते हैं कुछ ऐसे औपन्यासिक जिनका अपना मत विशेष नही है, जा सोद्देश्य रचना नही करते और न ही वे किसी 'वाद' में बाँधे जा सकते हैं। 'नरमेध', 'प्रश्न', 'अनिकेतन' के लेखक सर्वदानन्द समाजवादी वर्ग में आ सकते हैं। पात्रो को वे काफी तीखे सघर्ष में डालते हैं, परन्तु उन गुत्थियो में से उन पात्रो का विस्तार नही होता। वे जैसे उन्ही प्रश्नो में खो जाते हैं। इस दृष्टि से कवि की भावुक आत्मा उपन्यास लेखक पर हावी हो जाती है। करीब करीब यही स्थिति भगवतीप्रसाद जी वाजपेयी की है। परन्तु वे कथा का सुन्दर आधार देते हैं, अत घटनाएँ अपने आप में स्पष्ट हो जाती हैं। उनके पात्र अक्सर दार्शनिको की भाँति बातें करते रहते हैं। कई स्थलो पर वे अस्वाभाविक जान पडते हैं। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के चक्कर में दोनो ही लेखक नही पडते—सामाजिक विषमता से आहत व्यक्ति के दुख दर्दों को मुखर करना ही उनका प्रधान उद्देश्य है। तीसरे प्रगतिशील लेखक हैं उपेन्द्रनाथ 'अश्क'। आपके भी एक ही दो उपन्यास प्रकाशित हुए हैं—परन्तु उनमें नारी-चरित्रो का अच्छा अध्ययन है। यथार्थ और आदर्श के सघर्ष की

उर्दू कथा-लेखक कृष्णचन्द्र की ही भाँति 'अश्क भी पैनी दृष्टि से व्यंग्य द्वारा उद्भासित करते हैं। तीनों लेखकों में 'अश्क' के पात्रों के मन का चित्रण अधिक वैज्ञानिक है।

हिन्दी की एक मात्र उपन्यास-लेखिका हैं सुश्री ऊषादेवी मित्रा। 'वचन का मोल', 'पिया' और 'जीवन की मुस्कान' इन तीनों उपन्यासों में आधुनिक नारी का पक्ष उन्होंने सबल तर्कों से सामने रखा है। परन्तु प्रसाद और निराला के उपन्यास लेखन की ही भाँति ऊषादेवी भाषा की नक्काशी में काव्यात्मक शैली में कुछ इस प्रकार खो जाती हैं कि पात्र स्पष्ट रूप से सामने नहीं आ पाते। उनका प्रथम उपन्यास तीनों में सर्वाधिक सफल है। कजली का चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से निरूपम है। शरच्चन्द्र की आत्म पीडक नायिकाओं को ऊषादेवी की पिया की चाबुक वाली नायिका का खासा उत्तर है। परन्तु फेमिनिज्म अतिवाद है।

आज के हिन्दी उपन्यासकार की स्थिति की झलक बहुत कुछ 'साहित्य-सन्देश' के उपन्यास अंक के अन्तिम अंश लेखकों की आपबीती से चुने गये निम्न वाक्यों से मिल सकती है। मानो हिन्दी का औपन्यासिक कहता है—

जीवन की प्रमुख घटनाएँ—कोई खास नहीं। जिन्दगी मेरी विचित्र परिस्थितियों के भीतर बीती है और बीत रही है। १९२६ में एक उपन्यास गंगा पुस्तकमाला से प्रकाशित हुआ जो असफल उपन्यास रहा। बहुत अधिक कमजोरी का अनुभव कर रहा हूँ, लिखने के लिए मुझे सबसे अधिक प्रेरणा सम्भवतः अपनी बीमारी से मिली है। उपार्जित जमीदारी तथा शहरी जायदाद के कारण यहीं बस जाना पडा, इसके अतिरिक्त मेरे जीवन में अन्य कोई उल्लेखनीय बात नहीं। मैंने पढा कम है, खेला बहुत है। मैं भारत के अनेक समर्थवान धनीमानी भाइयों के द्वार खट-खटाकर चुप हो बैठा हूँ। मेरी अब एक ही अभिलाषा है कि मैं संसार का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार होकर मरूँ। मेरा जीवन ही स्वयं इतना प्रौढ, इतना करुण है। मैं सदैव से ही दुस्साहसिक रहा हूँ। भगवान् पर मेरा अटूट विश्वास है। कोई मुझ से पूछे कि जीवन का लक्ष्य क्या है, तो मैं कहूँगा—जीवन इस दृष्टि से देखा जाय तो हिन्दी का आधुनिक उपन्यास-साहित्य अभी कुछ नहीं है। लेखक वह है जो सौ फीसदी सच्चा आदमी नहीं है।

उपसंहार—पं० रामचन्द्र शुक्ल ने संवत् १९९२ में इन्दौर में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की साहित्य-परिषद् से भाषण देते हुए कहा था—"पर मेरा एक निवेदन है। इधर बहुत से उपन्यासों में देश की सामान्य जीवन-पद्धति को छोड बिलकुल यूरोपीय सभ्यता के साँचे में ढाले हुए छोटे से मनुष्य समुदाय के जीवन का चित्रण बहुत अधिक पाया जाता है। मिस्टर, मिसेज, मिस, ड्राइंग-रूम, टेनिस, मोटर पर हवाखोरी, सिनेमा इत्यादि ही उपन्यासों में अधिक दिखाई पडने लगे हैं। मैं मानता

हूँ कि आधुनिक जीवन का यह भी एक पक्ष है, पर सामान्य पक्ष नहीं। देश के असली, सामाजिक और गार्हस्थ्य जीवन के जैसे चित्र पुराने उपन्यासो में रहते थे वैसे अब कम होते जा रहे हैं। यह मै अच्छा नहीं समझता। उपन्यास के पुराने ढाँचे के सम्बन्ध में मै एक बात करना चाहता हूँ। वह यह कि वह कुछ बुरा न था। उसमें हमारे भारतीय कथात्मक गद्य प्रबन्धो के स्वरूप का भी आभास रहता था। (पृष्ठ १०६ ७)

शुक्ल जी सदा एक पुरातन पुनरुज्जीवक (रिवाइवलिस्ट) के रूप में सामने आते रहे। उपर्युक्त अवतरण के अन्तिम अश से असहमत होते हुए भी प्रथम अश से बाद भी यही कोई भी अपना अभिन्न मत ही बनावेगा। सचमुच ऊपर की लम्बी चौडी छानबीन से जान पडता है कि चाहे समाज विज्ञान हो या मनोविज्ञान, वह हमारे साहित्य की आन्तरिक आवश्यकताओ से पनपकर ऊपर आना चाहिए—न कि केवल बाह्य, विदेशी आये हुए, जीवन से विच्छिन्न, अनमिल वस्तु के रूप में। इस दृष्टि से प्रेमचन्द के बाद भारतीय जनता के मनसा में प्रवेश कर उसके स्तर पर स्तर खोलने वाला महान् प्रतिनिधिक औपन्यासिक हिन्दी में अभी नहीं है, यही कहना पडेगा। साहित्य के इतिहास के साथ साथ मनोविज्ञान के इतिहास में भी सशोधन होते गये। पहले जमाने का स्थितिवादी, मन को विभिन्न तहखानो में बाँटने वाला 'फैकल्टी' मनोविज्ञान जाकर व्यक्तिप्रधान मनोविज्ञान आया। बाद में 'चेतना-प्रवाह' वाद चला, फिर अवचेतन के काम प्राधान्य का फ्रॉयड-पन्थ चला। उसे पुन एडलर और युग ने अपने अपने तरीके से सशोधित किया। आवेग प्रधान और सामाजिक मन-प्रधान वाद चल पडे। बरतावबादी उधर अलग मन को घसीटकर शरीर शास्त्र का अंग बनाने की फिक्र में है। और आत्मा केवल कुछ सवेदनाओ के पूर्व-परिचालित उत्तेजना उत्तर सघातो की व्यवस्था मात्र बना दिया गया है। फिर भी अभी सशोधन चल ही रहे हैं। किसी निश्चित कसौटी पर मनोविज्ञान पहुँचा नहीं है। साहित्य के प्रगतिशील (प्रधानत मार्क्सवादी) आलोचक मनोविज्ञान पर अधिक आश्रित साहित्य को अस्वस्थ और वर्गीय विषमता के साथ से पलायन करने वाला केवल बुद्धिवादी साहित्य मानते हैं। काडवेल फ्रायड पर अपने निबन्ध में कहता है कि एक जमाने में लोग राम नाम (या ईश्वर) में खाने का प्रयत्न कर रहे थे। अब उसके बजाय 'लिबिडो' आ गया है। मगर राबर्ट आस्बर्न ने अपनी बहुत ही मार्मिक पुस्तक 'फ्रायड और मार्क्स' में इस तथाकथित प्रगतिवादी अर्धसत्य का विरोध करते हुए सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कैसे दोनो चिन्तको के मन परस्पर पूरक थे। अस्तु उस विवाद में न पडकर प्रश्न यहाँ इतना ही है कि हिन्दी उपन्यासो में श्री प० रामचन्द्र शुक्ल जी की प्रिय शब्दावली में अन्त प्रवृत्ति या शील वैचित्र्य के उत्तरोत्तर विकास उद्घाटन के कई प्रयत्न हिन्दी के आधुनिक उपन्यासों में हुए हैं। परन्तु सभी सफल नहीं रहे हो सकते।

'हिन्दी के सामाजिक उपन्यास' (आधुनिक) हिन्दी-उपन्यासो पर शायद एक मात्र आलोचनात्मक पुस्तक (जो कि बहुत ही ऊपरी ऊपरी और असन्तोषजनक है) के अन्तिम पृष्ठ पर लेखक की शिकायत थी 'हिन्दी में उद्देश्य-प्रधान उपन्यासो की कमी नहीं। उद्देश्य को चरित्र-चित्रण के रूप मे सरसतापूर्वक बहुत ही कम उपन्यासों में व्यक्त किया गया है।' (पृ० १४८)। इस पुस्तक को लिखे छ वर्ष हो गए। अब इस शिकायत के लिए इतनी गुंजाइश नहीं रही। सन्यासी शेखर देशद्रोही, चढ़ती धूप ने बहुत कुछ इस कमी की पूर्ति की है। परन्तु अब उल्टे यह कहने का प्रसग आया है कि हिन्दी के घटना-प्रधान उपन्यास पात्र प्रधान तो बन परन्तु वे इतने अधिक कि उपन्यासकार पात्र से बाहर की जगत् जीवन और जड सृष्टि के प्रति मानो अपनी प्रामाणिकता या सजीव सस्पर्श खो बैठा। अब इस बात की आवश्यकता है कि उपन्यास में सामाजिक मन का निरूपण हो। जैसे कि युद्धकालीन पश्चिमी औपन्यासिको ने किया है। सहेनबुर्ग का पेरिस का पतन', वरसिलेवस्का का 'पृथ्वी और आकाश', वासिली ग्रामसैन का 'जनता अजेय है', लिनयुताग का 'आंधी में एक पत्ता', सिवलेयर का 'नो पासारान' या सिलेपे का 'फोटामारा'—इन्हें केवल प्रचारक उपन्यास कहकर टाल देना नही चाहिए। इनमें उच्चकोटि की कला है, जो कि प्रचार को केवल स्वादु नहीं सहजग्राह्य बना देती है। उन उपन्यास कला के सफल अधिकारियो से हमें बहुत कुछ सीखना चाहिए। टेक्नीकल अपने आसपास के प्रति सजग जागरूकता, यथार्थवाद, सोद्देश्य रचना को कला-शून्यता से बचाना। क्या आज हमारे जीवन में कम प्रश्न है? जमींदार कृषको की समस्या रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में पृ० ६४३ पर बताई ही है, परन्तु साम्प्रदायिक समस्या, अछूतो के मानसिक विकास का प्रश्न, स्त्रियो के समानाधिकार का प्रश्न, शिक्षा और सैनिक का प्रश्न, राजनतिक कार्यकर्त्ताओ की रोजी का प्रश्न, मनफाखोरी और विदेशी पूंजीवादी के आश्रय में पलने वाले स्वदेशी पूंजीवाद का प्रश्न एक दो नही ऐसी अनेको समस्याएँ है जो कि हमारे नित्य-जीवन को परेशान करती है, उन्होंने गतिरोध सब दिशाओ में उत्पन्न कर दिये हैं। इस युग का प्रधान साहित्यिक माध्यम उपन्यास है। हमारे लेखको को चाहिए कि वे पाठको के मन की भूख को समझें। इन सब प्रश्नो पर, एक कलाकार की सहानुभूति से उपन्यास दें। उपन्यास—और—और उपन्यास यह बदले हुए युग की माँग है। ऐसी स्थिति में क्या हिन्दी लेखक उन्हें केवल अनुवाद देगा—या फिर सस्ती, रोमास पर आश्रित, जासूसी किस्म की लम्बी कहानियाँ? मेरे इस लेख से यदि हमारे लेखकगण अपना आलस्य छोडकर कुछ सक्रिय हो उठें, तो हिन्दी-ससार को इस बात की खुशी होगी।

७

कहानी-कला

कहानी कैसे बढ़ी ?

लोकवार्ता मे आधुनिक कहानी के बीज निहित है। श्रम-परिहारार्थ, मनोरजनार्थ, उत्सव आदि प्रसगो पर मनोविनोदार्थ आख्यायिकाओ का प्रश्रय लिया जाता रहा है। आरम्भ में इन कहानियो मे चमत्कार का अश विशेष था। बाद में वे नीति और उपदेश के दृष्टान्त बन गईं। फिर भी मध्ययुग तक उनमें अस्वाभाविकता की मात्रा अत्यधिक थी। कहानी का आरम्भ कैसे हुआ और भारतीय तथा विदेशी साहित्य मे उनका विकास कैसे हुआ, इस विषय में हिन्दी के तीन प्रसिद्ध कहानीकारो तथा दो आलोचको के मत सुनिये—

१ "कहानियो का जन्म तो उसी समय से हुआ, जब आदमी ने बोलना सीखा, लेकिन प्राचीन कथा-साहित्य का हमें जो कुछ ज्ञान है, वह 'कथा-सरित्सागर,' 'ईसप की कहानियाँ' और 'अलिफ लेला' आदि पुस्तको से हुआ है। यह उस समय के साहित्य के उज्ज्वल रत्न है। उनका मुख्य लक्षण उनका कथा-वैचित्र्य था। मानव-हृदय को वैचित्र्य से सदैव प्रेम रहा है। अनोखी घटनाओ और प्रसगो को सुनकर हम अपने बाप-दादो की भाँति ही आज भी प्रसन्न होते है। हमारा ख्याल है कि जन-रुचि जितनी आसानी से अलिफ-लैला की कथाओ का आनन्द उठाती है उतनी आसानी से नवीन उपन्यासो का आनन्द नही उठा सकती और अगर काउण्ट टालस्टाय के कथनानुसार जनप्रियता ही कला का आदर्श मान लिया जाय तो अलिफ लैला के सामने स्वय टालस्टाय के 'वार एण्ड पीस' की कोई गिनती नहीं।" —प्रेमचन्द

२ "कहानी का जन्म मानव-सृष्टि के साथ-ही-साथ हुआ है। आदम और हौवा का जो प्रथम सयोग था, उसकी भी एक कहानी है। एक प्रकार से वही कहानी सृष्टि की समस्त कहानियो की मूल प्रेरणा है। प्राय: कहानी का मूलाधार कुतूहल में रहता है। कहानी का उद्गम वास्तव में वृत्तवर्णन में है। चिर-वियोग के बाद जब दो मित्र आपस मे मिलते है तो प्राय. एक दूसरे से कहते है—'अपना हालचाल कह जाओ।' बहुत सम्भव है कि प्रारम्भिक कहानी का उद्गम वेदना से हुआ हो। कहानी के मूल रूप हमें ससार के समस्त आदि-ग्रथो में मिलते है। ऋग्वेद की ऋचाओ मे यत्र-तत्र अनेक कहानियाँ मिलती हैं। प्रायः उनका रूप कथनोपकथन-प्रधान हुआ करता था। हरएक धर्म के मूलग्रथ कथामूलक हैं। जब हम महाकाव्यो पर दृष्टिपात

करते है तो उनमे भी हम कथा-साहित्य की विशेषता पाते है। क्रम विकास की दृष्टि से देखा जाय तो कहानी की तीसरी पीढी उपदेशपूर्ण छोटी छोटी कहानियाँ है। इसी कोटि में ईसप की कहानियाँ, पचतन्त्र और हितोपदेश आते है ”

—भगवतीप्रसाद वाजपेयी

३ “प्राचीन युग मे सबसे प्रथम भारतीय साहित्य के ऋग्वेद, उपनिषद, साख्य, पचतन्त्र, नन्दीसूत्र और जातको म कथा-साहित्य का अनूठा सग्रह मिलता है। न्याय और दर्शन के गूढ सिद्धान्तो को समझाने के लिए इन सिद्धान्तो और उपाख्यानो का उपयोग होता था। विचारो की दृष्टि से इनमे की कुछ कहानिया आज भी विश्व-कथा-साहित्य में बेजोड ठहरती ह। रचना-सगठन की दृष्टि से इनम और आधुनिक कहानियो मे विशेष अन्तर है। आख्यानो को न तो उपन्यासो की श्रेणी मे रख सकते है, न कहानियो की। ये एक अलग कोटि के है। प्राय एक आख्यान के अन्तर्गत कई उपकथाएँ चलती है। ईसा की चार शताब्दी पूव हेरोडोटस न अपनी पुस्तक में अपने से १०७ वर्ष पूर्व के कहानीकार ईसप का उल्लेख किया है। लैटिन भाषा की सबसे पहली कथा जो गोल्डन ऐस' के नाम से अग्रेजी म अनूदित हुई, सम्भवत मौलिक नही, वह ग्रीक कथाकार 'ऐप्यूलियस' रचित ह। ग्यारहवी शताब्दी में 'कथा सरित्सागर' की रचना हुई। इसके पहले 'बृहत्कथा मजरी' प्रकाशित हो चुकी थी। हितोपदेश की रचना चौदहवीं सदी के पूव ही हुई, यह निश्चित है। कुछ लोगो का मत है कि मध्य एशिया की सब जातियो के कथा-साहित्य पर भारत की प्राचीन आख्यायिकाओ की छाप स्पष्ट है। कुछ विद्वान् फारसी की सिन्दबादी जहाजी की कथा की मूल भित्ति 'बिन्दक जातक-कथा' मानते है।” —विनोदशकर व्यास

और दो मत कहानी के विकासेतिहास पर सुनिए

“पाँचवी शताब्दी मे आचार्य बुद्धघोष लिखते है—'अक्खान ति भारत रामायणादि।' घट जातक एक प्रकार से छोटा-मोटा भागवत ही है। ईसा की प्रथम शताब्दी में आन्ध्र राजाओ के समय गुणाढ्य नाम के किसी पण्डित ने पैशाची भाषा में बृहत्कथा नाम का ग्रन्थ लिखा था। पैशाची भाषा या तो आधुनिक दरदी की पूर्वज भाषा थी या उज्जन के पास की एक बोली। ('भारत भूमि और उसके निवासी,' पृ० २८६—जयचन्द्र विद्यालकार)। यह गुणाढ्य कौन थे, कहना कठिन है। इनकी 'बृहत्कथा' एकदम अप्राप्य ह। अब तक किसी के देखने मे नही आई। इससे नही कहा जा सकता कि यह बृहत्कथा कितनी बृहत् थी और उसमे क्या क्या था? सोमदेव ने, जो कि एक बौद्ध था, अपना कथा-सरित्सागर 'बृहत्कथा' से ही सामग्री लेकर लिखा। बौद्ध कथाएँ जहाँ जन साहित्य है और उनका उद्देश्य जनसाधारण का शिक्षण रहा है, वहाँ पचतन्त्र के ब्राह्मण रचयिता ने उन कथाओ का उपयोग

केवल राजकुमारों को शिक्षित करने के लिए किया है। हितोपदेश में श्लोकों की अधिकता है उसमें पंचतन्त्र की सहायता ली गई है। आख्यायिका-साहित्य में वैताल-पंचविंशति का भी स्थान है। सिंहासन द्वात्रिंशिका, शुकसप्तति आदि और भी कई ग्रन्थ हैं। जैन वाङ्मय में भी आख्यायिका साहित्य है ही।

"छठी सदी में पंचतन्त्र का एक अनुवाद पहलवी या प्राचीन फारसी में हुआ। यह अनुवाद खुसरो नौशेरवाँ की कृति था। इसी अनुवाद से सीरिया की भाषा में एक अनुवाद छपा, जो जर्मन अनुवाद के साथ १८७६ में लिपजिग् से छपा। पंचतन्त्र का एक अरबी अनुवाद लगभग ७५० में असमीकाफ के पुत्र अब्दुल्ला ने किया, जिसका नाम था कलेला दमना, जो १८१६ में अंग्रेजी में अनूदित हुआ। १०८० में इस अरबी अनुवाद का ग्रीक में अनुवाद हो चुका था। १६४४ में अनवारसहेली का 'लिव्रे दल्यू-मिरे' नाम से फ्रेंच अनुवाद हुआ। १८७२ में इटली की भाषा में और १२५० में हीब्रू में अनुवाद छपा। ईसप की कथाओं के नाम से जिन कथाओं का यूरोप में प्रचार है और जिनके कुछ अनुवाद हमारी भारतीय भाषाओं में—यहाँ तक कि संस्कृत में भी (अहमदनगर के श्री बालकृष्ण गाडगोले का) छप चुके हैं उनका मूल स्थान जातक कथाएँ ही हैं। दमस्क के सत जान की किताब 'बरलाम एण्ड जोजाफ' का 'बोधिसत्त्व' का बोसत और जोसफ रूप है।" —भदन्त आनन्द कौसल्यायन

"हमारी कहानी का जन्म उस समय होता है जब संसार के स्त्री-पुरुष परस्पर एक दूसरे के विषय में सोचने लगते हैं; अथवा मानव सृष्टि अमानव-सृष्टि से सम्बन्ध जोडती है। ऐसी दशा में यह आवश्यक नहीं है कि इसका परिणाम उपदेश ही हो। मानव तथा अमानव जाति के विषय में कुछ रोचक बातों का स्पष्टीकरण पारस्परिक रूप में कर देना ही कहानी के अस्तित्व का उदाहरण है। हमें जहाँ तक मानव और अमानव जाति का सम्बन्ध मिलेगा, वहीं कहानी के कीटाणु भी मिल जायँगे। अतः मानना होगा कि कहानी की उत्पत्ति अनन्तकाल से है।" —रामकुमार वर्मा

कहानी क्यों और कैसे विकसित हुई, इस बात की चर्चा के पश्चात् कहानी क्या है, यह स्वाभाविक प्रश्न है। अब हम कहानी की परिभाषा, मर्यादा और अन्य कहानी जैसे साहित्य प्रकारों से उसकी समता या विरोध की मीमांसा करेंगे। इसके बाद कहानी के आवश्यक अंग और प्रकार—यानी कहानी किस तरह का? विचार करेंगे।

कहानी की प्राचीन परिभाषाएँ या अन्य-नाम—कथा, वस्तकथा, वार्त्ता, आख्यायिका, कादम्बरी, हितोपदेश, दृष्टान्त, आदि हम देख चुके, अब आधुनिक काल में प्रयुक्त अनेक नाम किस्सा (उर्दू), लघुकथा (मराठी), टूकीवार्त्ता (गुजराती), गल्प (बगला); कथा (तामिल), शार्ट स्टोरी (अंग्रेजी) की जो परिभाषाएँ हमें पश्चिमी लेखकों द्वारा मिलती हैं उन्हें देखें और फिर कहानी, एकाकी

उपन्यास, गद्यकाव्य, रूपक कथा, लघु निबन्ध, किच, रिपोर्ताज से उसका अन्तर स्पष्ट करें। इसी विश्लेषण में से कहानी के टेकनीक और प्रकार के सिद्धान्त-सूत्र आगे मिलेंगे।

१ "कहानी में नाम और तारीख के अतिरिक्त सब सत्य होता है और इतिहास में नाम और तारीख के सिवा सब असत्य, 'आदमी को कुत्ते ने काटा, यह घटना हुई, आदमी ने कुत्ते को काटा, यह कहानी बन गई,' या 'एक राजा था और उसकी एक रानी थी', यह कोई कहानी नही बनी, परन्तु 'एक राजा था और उसकी दो रानियाँ थी, या एक रानी थी उसके दो राजा थे'—" यह कहानी का, आरम्भ हुआ।

२ "कहानी एक प्रकार का वर्णनात्मक गद्य है जिसे पढने में आध घंटे से लेकर एक घंटे तक का समय लगता है। अर्थात् एक बैठक मे जो सामान्य रूप से पढ़ी जा सके, वही कहानी है।' (एडगर एलेन पो) 'तीन सौ से तीन हजार शब्दो का वह मनोरंजक गद्य जिसे पढ़ने में १५ से ५० मिनिट लगें और पढते समय पाठक ऊबे नहीं और एक ही बैठक मे पूरा पढ़ लेना चाहे, कहानी है।" —एच० जी० वेल्स

३ "प्रत्येक वस्तु मे कोई न कोई कथानक निहित है, अनन्वेषित है, जिसे हमारी आँख हमसे पहले लोग क्या विचार कर गये है इसी चिन्ता मे उलझी रहने के कारण, हम देख नही पाते। छोटी-से-छोटी, क्षुद्र-से क्षुद्र वस्तु में कुछ अज्ञात तत्त्व है, उसे खोज निकालो।" —गाय द मोपासा

४ "जहाँ तक मैं जानता हूँ, कहानी लिखने के तीन ही तरीके है—एक कथानक ले लो, और उसमे पात्र जमा दो, या एक पात्र ले लो, और उसके लिए घटनाएँ निर्मित करो, या फिर एक विशेष वातावरण ले लो और उसके अनुरूप घटनाएँ और पात्र निर्माण करो।" —ग्रैहम बलफोर

५. "जो कुछ मनुष्य करे, वही कहानी है।" —ह्यूवाकर

"मेरा प्रधान उद्देश्य एक मनोरंजक घटना-क्रम वर्णित करना है, जिससे मै पहले शब्द से आखिरी शब्द तक पाठक का ध्यान अपनी ओर खीचे रखूं। जो व्यक्ति सुगठित, सुनिश्चित नाट्यात्मक अंतवाली घटनावाली नहीं लिख सकता, वह अपने आपको क्यो व्यर्थ कहानीकार या उपन्यासकार कहे?' —गिल्बर्ट फ्रैंकल्यू

६ "मुझे अपनी स्वय की कहानियाँ सब से अच्छी लगती है, जब तक कि वे लिखी नही जाती।" —वानर मारिस

७ "अपनी कहानी में मै कोई-न-कोई मनोवैज्ञानिक समस्या अवश्य रखना चाहता हूँ।" —प्रेमचन्द

८ "आधुनिक कथा वहाँ शुरू होती है जहाँ घटना सडक से आत्मा के भीतर प्रवेश करती है।" —एडिथ ह्वाटन

६ "कहानी का विषय होता है एक प्रकाशित करने वाला तथा स्वयं-प्रकाशी क्षण, चाहे वह सौन्दर्य-भरा हो, चाहे भय-भरा, चाहे विस्मय भरा !" —बुलेट

१० "कहानी के दो ही प्रकार होते हैं—एक जिसमें प्रधान नायक से कोई हेतु सिद्ध कराया जाता है, दूसरा, जिसमे प्रधान नायक स्वय कोई निश्चय या चुनाव करता है।" —जीन गलिश

इसी प्रकार जे० बी० एसेनवाइन के शब्दो में कहानी मे प्रभाव की एकता, श्रेष्ठ कथानक, एक प्रधान पात्र, एक समस्या और उसका समाधान अथवा समाधान की दिशा मे इंगित रहता है। सुन्दर कथानक के लिए घटनाओ का तारतम्य या प्रवाह आवश्यक होता है और उनमे भी तीव्र स्थिति, तनाव, सभाव्यता, स्वाभाविकता, नाटकीयता, कुतूहल और सूझ, द्वधीभाव (सस्पेन्स) आदि तत्वो का उत्तम गुम्फन आवश्यक होता है।

आइए, अब देखे कि यह जो आधुनिक छोटी कहानी दन्त-कथा, परी-कथा, नीति-कथा, साहस कथा, प्रेमाख्यान आदि मजिलें पार कर हमारे सामने है वह उपन्यास से किस प्रकार भिन्न है। कहानी और उपन्यास में केवल लघुता-दीर्घता, आकार या मात्रा का अन्तर नही, परन्तु प्रकार का अन्तर है। बडी कहानी न उपन्यास बन सकती है, न लघु उपन्यास एक कहानी ही। कहानी और उपन्यास का अन्तर एक प्रकार से गीतिकाव्य और महाकाव्य के अन्तर के समान है। कहानी जीवन के खड या अशमात्र को प्रस्तुत करती है, उपन्यास जीवन की समग्रता को। कहानी उछलता कूदता हुआ वन्य निर्झर है, उपन्यास गम्भीर कूलहीन समुद्र। कहानी एक दिन ही में मुरझा जानेवाली लिली की कली है, उपन्यास विशाल, युगो युगो तक स्तब्ध मौन, तना खडा देवदारु। कहानी-लेखक जैसे द्रुत रेखाचित्र या 'स्नप' मात्र लेता है, उपन्यास बृहद् भित्तिचित्र (फ्रेस्को) के समान है। कहानीकार भीड को अपनी छोटी-सी खिडकी में से या सराय के एक कोने से देख लेना पर्याप्त समझता है, उपन्यास-लेखक एक ऊँची मीनार पर बैठकर जैसे आसपास का विस्तृत भू-प्रदेश देखता है। बैरी पेन ने ठीक ही कहा है कि उपन्यास पढना भरपेट भोजन से पूरा सन्तोष पाना है, कहानी सिर्फ भूख को लहकाना या उकसाना मात्र है। आज की कहानी और उपन्यास दोनो ही मनोवैज्ञानिक बनते जा रहे है—लेखक को पाठक के, पात्रो के, उपन्यासगत समाज के मन का ध्यान रखना पडता है। इस दृष्टि से अच्छी यथार्थवादी कहानी लिखना हँसी-खेल नही, टेढ़ी खीर है। वैसे तो जीवन स्वय एक अनाद्यन्त आख्यायिका है।

कहानी बहुत कुछ एकाकी नाटक के समान होती है। प्रभाव की एकाग्रता, जीवन का आशिक क्षण-चित्रण, सवाद की स्वाभाविकता, घटनाओ की नाटकीयता आदि दोनो में एक-सी आवश्यक वस्तुएँ है। यदि शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय की षोडशी

नाटिका को आप पढे जो कि उन्होंने अपने छोटे उपन्यास से स्वय लिखी, या प्रेमचद की कहानी 'कफन' का रशीदजहाँ-द्वारा गाँव के थियेटर के काम का दिया गया नाट्य रूप या इसी प्रकार के कई गाल्सवर्दी और चेखोव के कहानियो के एकाकीकरण तो पता चलेगा कि दोनो साहित्य रूपो मे, सिवा कुछ वर्णनो के, जो कि कहानी म अधिक होते है, बहुत कम अन्तर रहता है। दोनो ही साहित्य प्रकार आधुनिक अग्रेजी साहित्य से हिन्दी मे आए और उसी से के विचार-प्रवाहो, समस्याओ द्वारा अधिक प्रभावित है। कहानी और एकाकी म यदि कोई अतर है तो इतना ही कि दृश्यो का जितना परिवर्तन कहानी मे सम्भव ह, एकाकी में नही। एक पात्र कहानी में बैठे-बैठे अपने गत जीवन के खट्टे-मीठे अनुभवो की चित्रपटी खोलकर देख सकता है, एकाकी म वैसा एकान्त आत्म सशोधन सम्भव नही, बल्कि एकाकी का आधार ही किसी न-किसी प्रकार का कार्य (एक्शन) है।

कहानी और गद्य-काव्य म बहुत बार भेद न च न्ह पाने के कारण भाव-चित्र वा भाव कहानी या रूपक कथा नामक एक और प्रकार चल पडा ह। तुर्गनेव के (ड्रीम्स) सपने, रवीन्द्रनाथ के 'पयूजिटिव' म कई गीत, वि० स० खाडेकर के 'कलिका', 'मजरी' और 'सवर्णकण' धूमकेतु की छोटी-छोटी गुजराती बिन्दु-कहानियाँ, सोलोखोफ की कुछ ऐसा कथाएँ, रायकृष्णदास, शान्तिप्रसाद वर्मा, राजकुमार रघुवीरसिह और प्रकाशचन्द्र गुप्त के कुछ गद्य काव्यात्मक रेखाचित्र इसी कोटि में आते है। उनम कुछ तो निश्चित भाव-गीत या 'लरिक' या ऊर्मिकाव्य (लिरिक) होते है, अन्य कुछ होती है प्रतीकात्मक छोटी कहानियाँ। उदाहरणार्थ खलील जिब्रान के 'दी प्राफेट (जीवन-सदेश), 'मडमैन', 'सैंड एण्ड फोम', आदि पुस्तको में कई छोटे-छोटे गद्य गीतो मे गीतात्मक कथाएँ इसी के अन्तर्गत आ जायगी। यदि वे छन्दोबद्ध और पद्यात्मक होती तो खडकाव्य या आख्यानकाव्य कहलाती—जैसे सियारामशरण जी गुप्त के 'पाथेय' या 'आर्द्रा' की कहानियाँ। सिनेमा में रूसी दिग्दर्शक आइजेन्स्टाइन ने 'मोंटाज' (स्थिर-चित्र) नामक शैली, प्राकृतिक या पार्श्वभूमि के सकेत द्वारा किसी घटना को व्यक्त करने के लिए जसे प्रचलित की, साहित्य में रूपक-कथा भी बहुत अधिक लोकप्रिय हो रही ह।

परतु रूपक-कथा में और हलके निबन्ध या व्यक्तिगत निबन्ध में अन्तर है। ए० जी० गार्डिनर उर्फ 'अल्फा ऑफ दी प्लाऊ' के 'फेलो ट्रेवलर' म मच्छर के प्रति रेलप्रवासी के मनोभाव कहानी नही कहे जा सकते, या प्रेमचन्द की 'कफन' मे प्रकाशित 'काश्मीर-सेब' भी कहानी नही मानी जा सकती। प्रो० ना० सी० फडके ने मराठी में इस प्रकार के लघु निबन्धो को 'गुजगोष्ठी' (बतकही, सुखदुःख निवेदन या परस्पर-सल्लाप) कहा है। दोनो मे विपुल कल्पनाशक्ति, आरम्भ और अन्त की

कुशलतापूर्वक रचना; लघुता, स्वाभाविकता, साधारण विचारपद्धति से भिन्न दृष्टिकोण और विचित्रता आवश्यक है—फिर भी दोनों में मौलिक अन्तर है। निबन्धकार एक विचारक होता है, कहानीकार कलाकार। निबन्ध में चिन्ता प्रधान है तो कथा में रस।

इधर पंत जी की 'पाँच कहानियाँ', महादेवी वर्मा के 'अतीत के चलचित्र', सुभद्राकुमारी के 'सीधे सादे चित्र' आदि व्यक्ति चित्रों की रचनाओं से हिन्दी में कहानी और स्केच या शब्दचित्र पर्यायवाची माने जाने लगे हैं। असल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रसिद्ध कहानी 'काबुलीवाला' या 'सुधा'; शरच्चन्द्र की 'हरिचरण', प्रसाद की 'मधुआ' या 'बेंडी', भगवतीचरण वर्मा की 'एक चक्कर है', जैनेन्द्रकुमार की 'रुकिया बुढ़िया' या 'मास्टर जी' कहानियों से अधिक स्केच हैं। इसका कारण यह है कि घटना की अपेक्षा व्यक्तित्व के एक कोण-विशेष को अथवा एक चामत्कारिक या असामान्य व्यक्तित्व को प्रस्तुत करना उनका प्रधान उद्देश्य रहता है। इस प्रकार के सुन्दर व्यक्ति-चित्र मराठी में श्री घाटे ने 'कुछ बुड्ढे और एक बुढ़िया' नामक किताब में लिखे हैं। हिन्दी में श्रीराम शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, भदन्त आनन्द कौसल्यायन आदि ने ऐसे शैलीपूर्ण व्यक्ति-चित्र लिखने में विशेषता प्राप्त की है।

व्यक्ति-चित्र की भाँति घटनाओं के विवरण, प्रवास या किसी बड़ी दुर्घटना—युद्ध, भूचाल, अकाल आदि के मनोरंजक ब्यौरे या प्रचार की दृष्टि से लिखे जानेवाले व्यंग्यपूर्ण प्रसंग चित्र—जिन्हें फ्रेंच 'रिपोर्ताज' से पुकारा जाता है, कहानीनुमा होते हुए भी कहानी नहीं। अज्ञेय का 'त्रिपुरी कांग्रेस' पर लेख, रांगेय राघव के बंगाल के अकाल पर 'तूफानों के बीच', अमृतलाल नागर की 'आदमी नहीं नहीं', इल्या एहेनबुर्ग या वासिली ग्रासमन जैसे रूसी उपन्यास लेखकों के युद्ध के लाम पर के वर्णन आदि, या आधुनिक उर्दू कहानी में कृष्णचन्द्र आदि द्वारा बहुत प्रयुक्त होनेवाली शैली (हम वहशी हैं!) इसी प्रकार की है। इसमें कहानी के तत्त्व अवश्य हैं, परन्तु जैसे फोटोग्राफी की कला का पोस्टर के लिए उपयोग हो, वैसे रिपोर्ताज कहानी का एक विशेष प्रकार का प्रचारात्मक प्रयोग है।

कहानी किस तरह और कितनी तरह की?

कहानी की मर्यादा निश्चित करने पर अगला प्रश्न कहानी के कला-पक्ष अथवा 'टेकनीक' का है। (टेकनीक के लिए उपयुक्त हिन्दी शब्द अभी चला नहीं; वैसे कई व्यक्ति 'तन्त्र', 'शैली', 'निवेदनपद्धति' आदि प्रयुक्त करते हैं।) कहानी के आवश्यक तत्त्व निम्न माने गये हैं।

(१) कहानी छोटी हो। (२) एक ही भावना का उसमें उद्रेक हो। (३) कहानी लिखने में जितनी आवश्यकता स्मृति की है, उतनी ही विस्मृति की भी है;

यानी कहनी मे चुनाव बहुत जरूरी चीज है। (४) कथानक, वृत या वस्तु—पात्रों द्वारा किए जाने वाले कार्य या घटनाएँ (५) ऐसी घटनाएँ जिन पर घटित होती हैं, वे पात्र और उनका चरित्र चित्रण (६) कथोपकथन या सवाद (७) जिस रीति से कथानक विकसित होता है, वह रचना-क्रम (८) भाषा शैली, वर्णन या वातावरण-निर्मिति तथा उन पर लेखक के विचार (९) शीर्षक, आरम्भ और अन्त (१०) कहानी का समग्र प्रभाव और मूल हेतु, उद्देश्य या आदर्श का निर्वाह। यदि इन बातो में से एक एक को लेकर विस्तार से लिखें तो कहानी कला पर एक स्वतन्त्र ग्रथ ही बन जाय। यहाँ पर सक्षेप में इनके सन्तुलन पर ही विचार दिए जा सकेंगे। एक अग्रजी समालोचक के मतानुसार कहानी में प्रधान वस्तु और कथानक ४५ प्रतिशत तथा रचना सौष्ठव २० प्रतिशत महत्त्व रखता है। चरित्र-चित्रण, कथोपकथन तथा शैली क्रमश १५, १५ तथा ५ प्रतिशत महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार गुण विभाजन तो अच्छी कहानी में सभव नहीं, परन्तु दो-चार शब्द कहानी के मूलाधार कथानक, चरित्र, वातावरण तथा रचना शैली पर गुण दोष विवेचनरूप सक्षेप में कहना आवश्यक है।

कथानक में प्रवाह, घटनाओ का तारतम्य, कथानक के अगो का परस्पर-सगठन आवश्यक होता है। कथानक के मुख्य अग है प्रस्तावित अश, समस्या का आरम्भ, क्लाइमेक्स या चरम-बिदु अत जो कि समस्या का सुलझन भी हो सकता है अथवा सुलझन की अनेक सभावनाओ में से एक इगितमात्र। कथानक बहुत लम्बा चौडा भी आवश्यक नहीं, और न कोई कथानक विहीन कहानी ही अच्छी कहानी कहलाती है। प्रेमचद की 'रानी सारन्धा' या प्रसाद की 'आँधी', शरच्चन्द्र की 'कादम्बिनी', 'स्वामी' या जैनेन्द्र की 'एक रात', हार्डी के वेसेक्स टस की पहली कहानी या एण्टन चेखौव की 'चुम्बन' कहानी काफी लम्बी है, इससे उलटे ओ', हेनरी या लुइजी पिरदेलो या जैनेन्द्रकुमार की कई छोटी कहानियाँ स्पष्टत कथानकविहीन कही जा सकती है। अत कथानक की दीर्घता या लघुता के सम्बन्ध में कोई निर्णय देना असम्भव है परन्तु उसमें प्रारम्भ अत्यन्त आकर्षक, कुतूहलोत्पादक, मूल कथा से जुडा हुआ, कहानी के उद्देश्य का साकेतिक दर्शन करानेवाला, एक प्रकार से सम्पूर्ण कहानी का प्रेममय प्रथम परिचय होना चाहिए। श्री रामकुमार वर्मा ने कहानी में कुतूहल-विकास का एक मानचित्र सा अपने साहित्य-समालोचन में पृ० ५७ पर दिया है, जो कि 'रेशमी-टाई' की भूमिका में एकाकी के निर्वाह के सम्बन्ध में दिये मानचित्र से बहुत मिलता-जुलता है—

परन्तु इस प्रकार मानचित्र बनाकर किसी भी कला-रचना का नियमन नहीं किया जा सकता। यह केवल एक आधारमात्र है। वैसे प्रत्येक कहानी का नक्शा एक दूसरे से भिन्न प्रकार का होगा। कथानक चार प्रकार का कहा गया है—घटनाप्रधान, चरित्रप्रधान, वर्णनात्मक, भावप्रधान। कथानक के अन्त में कोई-न कोई अनपेक्षित विचित्रता रखना एक और महत्वपूर्ण बात है। पाठक एक प्रकार का अन्त मन में सोचता है, जब कि लेखक दूसरा कोई प्रकार का बतलाता है। यह चामत्कारिता कथानक में अतिरिक्त रसोत्पत्ति करती है। कहानी के कथानक के विकास की उपमा जादूगर-द्वारा एक रिक्त पात्र या हैट में बहुत से रूमाल निकालने से दी जाती है। फ्लाबेयर नामक फ्रेंच कथा लेखक ने एक उत्तम सूत्र दिया है, जो हमारे ब्रह्मसूत्रों के 'पटवच्च' के समान है। वह कहता है 'ईय फॉल् न्तरेरसेर' (मैं इस प्रकार कहानी खोलता हूँ, लपेटे हुए सूत्र सुलझाता हूँ।)

पात्रों के सम्बन्ध में पहली बात जो कही जा सकती है, वह यह कि वे जीवित हो, सप्रमाण हो। उनमें कहीं यह ध्वनि इंगित न हो कि ये तो कठपुतले हैं, लेखक की इच्छा से चलनेवाले यान्त्रिक खिलौने हैं। अतः पात्रों को गढ़ने, काटकर तैयार करने, खोदने, तार को जोड़ने, चलाने-बुलवाने की बात गलत है। क्रिया कर्ता से अविच्छिन्न है, घटना पात्रों से। ई० एम० फार्स्टर ने अपने 'उपन्यास के पहलू' ग्रंथ में समतल (फ्लैट) और वर्तुल (राउंड) दो प्रकार के चरित्रों की बात कही है। पात्र अतीन्द्रिय या हवाई न होने चाहिएँ। उनमें वस्तु-वृत्ति (मेटीरीयलाइजेशन) होनी चाहिए। उनमें चुम्बकीय गुण रहना चाहिए। मार्सेल प्रूस्त ने उसे प्राकृतिक गुणसमुच्चय कहा है। कहानी में चूँकि समय और स्थान सीमित होता है चरित्र के व्यक्तित्व का एक विशेष अंग ही उसमें झलकता है, उपहैम ने जो बात कही है वह महत्त्वपूर्ण है—'चरित्र-चित्रण में सदा इस बात का भय बना रहता है कि वे

व्यंग्यचित्र न बन जायँ, जैसे कि घटनाक्रम सम्भावनीयता की सीमा लाँघकर पाठक के धैर्य की परीक्षा ले ले।' सजीव चरित्र उपस्थित करने के लिए छोटी छोटी घटनाओं का चुनाव आवश्यक है, जिसके द्वारा चारित्रिक विशेषताएँ स्पष्ट हो सकें। उदाहरणार्थ पात्र का नाम, बाह्यरूप, मुखाकृति, वय, बर्त्ताव, पैतृक गुण दोष, परम्परागत प्रथाओं का उसके मन पर प्रभाव, शिक्षा-दीक्षा, वार्तालाप की विशेषताएँ, दिनचर्या, जीवन घटनाएँ आदि-आदि बातों के विवरण से पात्र में प्राण फूंके जा सकते हैं। चरित्र-चित्रण के समय प्रत्येक रेखा का मूल्य होता है, कहीं भी अनावश्यक मात्रा में रेखाओं का आधिक्य घातक सिद्ध होता है। चरित्रों के उपस्थित करने के वर्णन, संकेत, वार्तालाप घटना, पत्र, डायरी, स्मृति आदि कई प्रकार है। लेखक चरित्रों के चित्रण में स्वयं प्रवेश करे या हस्ताक्षेप करे अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में दो मत हैं। पुराने लेखक अक्सर चरित्रों से बाहर रहकर बीच-बीच में अपने मंतव्य भी देते जाते थे। आधुनिक लेखक चरित्र से घुलमिल जाता है, चरित्रों से ऊपर अपनी विशेष सत्ता नहीं मानता।

कहानी की तीसरी आवश्यक वस्तु है वातावरण-निर्माण। आखिर क्रिया या कर्ता, घटना या चरित्र किसी विशिष्ट देश-काल-परिस्थिति की पार्श्वभूमि में ही रहते हैं। किसी पार्थिव आकाश वातास में ही सांस लेते हैं। उनका प्रभाव चरित्र या घटना पर अवश्य चेतन-अवचेतन रूप से पड़ता ही है। ऐतिहासिक कहानियों के लिखते समय इस बात का ध्यान विशेष रूप से रखना पड़ता है। मुझे हिन्दी के एक प्रसिद्ध कहानी-लेखक 'अज्ञेय' बतला रहे थे कि 'अकोरा के पथ पर' और 'कसेड़ा का अभिशाप' ('कोठरी की बात' में प्रकाशित) जैसे विदेशी वातावरणवाली कहानियाँ लिखने से पहले कई महीनों तक जेल में वे उन-उन देशों की सभ्यता, भूगोल, फूल-पत्ती आदि का कैसे अध्ययन करते रहे। मैंने गत विश्वव्यापी युद्ध पर कुछ कहानी जैसे शब्दचित्र लिखे ('संगीनों का साया' नाम से प्रकाशित)—उसके लिए भी मुझे काफी खोज, छान-बीन करनी पड़ी। तारस्ताय यदि कज्जाकों के बीच में सिपाही के नाते न रहता तो सम्भव नहीं था कि वह इतने उत्तम चित्र 'सेवास्तोपोल की कहानियाँ' में दे पाता, या गोर्की के जीवनानुभव की विविधता (उसकी डायरी में वर्णित) उसकी 'आटम नाइट' या 'ट्वेंटी-सिक्स एंड वन' जैसी कहानियों में अतिरिक्त बल, कड़ौस और तिक्तता प्रदान करती है। राहुल सांकृत्यायन ने अपने 'सतमी के बच्चे' में ऐसे ही निम्न-वर्ग के चित्र उपस्थित किये हैं। रवीन्द्र और शरच्चन्द्र की कहानियों में जो बंग-संस्कृति की, विशेषतः पल्लीसमाज की, ग्रामीण वातावरण की ताज़गी है, वह कहानी में विशेष रूप से अपेक्षित 'प्रादेशिकता' (लोकल कलर) के उत्तम आदर्श हैं।

अन्त में रचना-शैली (जिसमें सवाद या वार्त्तालाप, भाषा, मुहावरेबाजी, रचनाक्रम आदि बाते आती है) का विचार करे। यह सब बाते कहानी के समग्र प्रभाव, मूलोद्देश्य पर बहुत कुछ निर्भर रहती है। कहानी लिखने के कुछ ढग जो बहु-प्रचलित है, वे इस प्रकार है—

१ साधारण ढग—जिसमें लेखक एक दर्शक की भाँति घटनाओं का ब्यौरा देता चले। यह वर्णनात्मक या ऐतिहासिक प्रणाली भी कही जाती है। प्रेमचंद-सुदर्शन की कहानियाँ ऐसी है।

२ आत्मवृत्तात्मक ढग—जिसमे लेखक स्वय एक पात्र का रूप ले ले और सारी कहानी प्रथम पुरुष मे कही जाय। इस पद्धति की अपनी सीमाएँ है। एक बार यह पद्धति आरम्भ करने पर पहली पद्धति नहीं अपना सकते। जैसे अज्ञेय की 'अमर बल्लरी'।

३ कथोपकथन प्रधान ढग—इसमें सारी कहानी वार्तालाप में ही दी जाय। यह बहुत कुछ एकांकी के समान होती है। इसमें पात्रो के मन की बातों को या घटनाओ को केवल सवाद के माध्यम से ही व्यक्त किया जाता है। उग्र और कौशिक की कई कहानियाँ इसी पद्धति की हैं।

४ पत्रात्मक ढग—इसमे समूची कहानी कुछ पत्रो का सग्रह-मात्र होती है, जो एक के बाद दूसरे आते जाते है। कई बार ये सब पत्र एक ही व्यक्ति के होते है या फिर अनेक व्यक्तियो के हो सकते है। जैनेन्द्र और 'अश्क' ने कुछ कहानियाँ इस ढग की लिखी है।

५ डायरी का ढग—स्मृति बही में कुछ बातो को शृंखलाबद्ध या अशृंखलित रूप में याद करते जाना। इसमे अनेक बार बहुत सा अनावश्यक अंश भी आ जाता है। यशपाल की कुछ कहानियाँ इस ढग की है।

६ वातावरण का ढग—भूतो की कहानियो या जासूसी कहानियो में विशेषत इस प्रकार के प्रयोग को अपनाया जाता है। जहाँ कहानी में प्रधान पात्र एक व्यक्ति न होकर समूचा मुहल्ला या समाज हो, वहाँ भी यह ढग अपनाते है (जैसे अहमदअली की 'हमारी गली')।

७ मनोवैज्ञानिक ढग—जहाँ पात्र-विशेष या अनेक पात्रो के मन में, चेतन-अर्द्धचेतन अवचेतन स्तरो में क्या चल रहा है, इसका चित्रण किया जाय। यह अत्याधुनिक ढग है और इसमें बहुत सावधानी रखने की आवश्यकता होती है। चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, अमृतराय, विष्णु आदि ऐसे प्रयोग कर रहे है।